भक्तामर रहस्य

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

भक्तामर रहस्य

श्रीमद् मानतुङ्गाचार्य विरचित भक्तामर स्तोत्र पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के भक्तिरस पूर्ण प्रवचन

गुजराती सङ्कलन :
ब्रह्मचारी हरिलाल जैन
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सम्पादन :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़

हिन्दी अनुवाद :
कामना जैन
देहरादून (उत्तराञ्चल)

प्रकाशक :
कुन्दकुन्द प्रवचन प्रसारण संस्थान
उज्जैन (मध्यप्रदेश)

तीर्थधाम मङ्गलायतन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट
सासनी-204216, हाथरस (उत्तरप्रदेश) भारत

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ (तीर्थधाम मङ्गलायतन द्वारा)
द्वितीय संस्करण : 2000 प्रतियाँ
तृतीय संस्करण : 2000 प्रतियाँ
(**तीर्थधाम मङ्गलायतन** में आयोजित आध्यात्मिक शिक्षण शिविर के अवसर पर अक्टूबर 2011)

ISBN NO. - 978-81-906776-0-8

न्यौछावर राशि : 20.00 रुपये मात्र

AVAILABLE AT -

— **TEERTHDHAM MANGALAYATAN**
Sasni - 204216, Hathras (U.P.) India
e-mail : info@mangalayatan.com

— **PANDIT TODARMAL SMARAK BHAWAN**
A-4, Bapu Nagar, Jaipur - 302015 (Raj.)

— **SHRI HITEN A. SHETH,**
SHREE KUNDKUND-KAHAN PARMARTHIK TRUST,
302, Krishna-Kunj, Plot No. 30, Navyug CHS Ltd.,
V.L. Mehta Marg, Vile Parle (W),
Mumbai - 400056
Ph. : 022-26130820, (Res.) 24015434
e-mail : vitragva@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com

— **SHRI KUNDKUND KAHAN JAIN SAHITYA KENDRA**
Songarh (Guj.)

— **KUNDKUND PRAVACHAN PRASARAN SANSTHAN**
Chiman Ganj Mandi, Ujjain (M.P.)

टाइप सेटिंग :
मङ्गलायतन ग्राफिक्स, अलीगढ़

मुद्रण व्यवस्था :
देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर

प्रकाशकीय

श्रीमद् मानतुङ्गाचार्य द्वारा रचित भगवान श्री आदिनाथ जिनेन्द्र का भक्ति काव्य '**भक्तामर स्तोत्र**' पर हुए आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के भक्तिरसपूर्ण प्रवचनों का सङ्कलन '**भक्तामर रहस्य**' प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

वर्तमान शताब्दी में दृष्टिगोचर दिगम्बर जिनधर्म की प्रभावना में पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का अविस्मरणीय योगदान रहा है। पूज्यश्री ने स्थानकवासी श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में जन्म लेकर, स्वयं बुद्ध की तरह न केवल सत्य का अनुसन्धान ही किया, अपितु उसे प्राप्त भी किया और प्रचारित भी किया। आज इसमें कोई मतभेद नहीं है कि यदि पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का उदय नहीं हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में आध्यात्मिक जागृति का नितान्त अभाव ही रहता।

विक्रम सम्वत् १९७८ की वह पावन घड़ी, जिस दिन पूज्य गुरुदेवश्री के करकमलों में शासन स्तम्भ श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा विरचित समयसार परमागम आया, जिसे प्राप्त कर उन्होंने क्या नहीं पाया? क्या नहीं छोड़ा? भगवान समयसार स्वरूप शुद्धात्मा को पाया और मिथ्यामताग्रह का विष छोड़ा। तभी से लगातार ४५ वर्षों तक पूज्यश्री के द्वारा वीतरागी जिनशासन की जो अविस्मरणीय प्रभावना हुई, वह आज देश-विदेश में अपनी जड़ें जमा चुकी है।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री आज सदेह उपस्थित नहीं हैं, तथापि उनकी वाणी कैसेट्स, सी.डी. एवं डी.वी.डी में अवतीर्ण होकर तथा सत्साहित्य के रूप में प्रकाशित होकर, इस पञ्चम काल के अन्त तक भव्यजीवों को

मुक्तिमार्ग का बोध प्रदान करती रहेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री के मङ्गल प्रभावना उदय में सैकड़ों जिन मन्दिरों एवं कई भव्य सङ्कुलों का निर्माण हुआ है, जो उनके द्वारा प्रसारित भगवान महावीर के जीव मात्र को हितकारी आध्यात्मिक सन्देशों के व्यापक प्रचार-प्रसार में संलग्न है।

कुन्दकुन्द प्रवचन प्रसारण संस्थान भी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रभावना उदयरूपी वटवृक्ष की एक शाखा है। अत्यन्त अल्पकाल में इस संस्था ने अनेक तत्त्वप्रचारात्मक गतिविधियों से सम्पूर्ण मुमुक्षु समाज के हृदय में अपना अमिट प्रभाव स्थापित किया है।

सत्साहित्य का प्रकाशन के क्रम में यह प्रस्तुत प्रकाशन सद्धर्म प्रेमी साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए हमें हर्ष है।

भक्तामर स्तोत्र के इन प्रवचनों का गुजराती सङ्कलन ब्रह्मचारी हरिलाल जैन, सोनगढ़ द्वारा किया गया है। जिनका हिन्दी रूपान्तरण कामना जैन, देहरादून द्वारा किया गया है एवं सम्पादन कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ द्वारा सम्पन्न किया गया है, साथ ही इस विषय पर व्यापक स्पष्टीकरण करनेवाली प्रस्तावना भी उन्होंने लिखी है। प्रस्तुत ग्रन्थ में पण्डित कमलकुमार शास्त्री, खुरई द्वारा किये गये भक्तामर स्तोत्र के हिन्दी पद्यानुवाद को लिया गया है।

सभी साधर्मीजन इस प्रवचन ग्रन्थ का स्वाध्याय करके निज आत्महित साधें — यही भावना है।

दिनाङ्क, 20 सितम्बर 2009

प्रदीप झाँझरी
मैनेजिंग ट्रस्टी
कुन्दकुन्द प्रवचन
प्रसारण संस्थान, उज्जैन

अनुवादिका के दो शब्द

जब परमपूज्य मानतुङ्गाचार्य विरचित भक्तामर स्तोत्र पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के गूढ़ और मार्मिक प्रवचनों का गुजराती से हिन्दी भाषा में अनुवाद करने के लिए मुझसे कहा गया तो मैं असमंजस में पड़ गयी क्योंकि मैने गुजराती भाषा सीखी नहीं है। साढ़े चार वर्ष तक बड़ौदरा में रहने से और वहाँ दैनिक समाचार-पत्र पढ़ने तथा लोगों की बोलचाल की भाषा सुनने से मुझे थोड़ी गुजराती बोलना आ गयी। इन विगत 5 वर्षों तक **तीर्थधाम मङ्गलायतन** में रहकर वहाँ प्रतिदिन पूज्य गुरुदेवश्री के सी.डी. प्रवचनों को सुनने के कारण तत्त्व के गूढ़ रहस्य, जो पूज्य गुरुदेवश्री समझाते हैं, मुझे गुजराती में समझ में आने लगे।

अत: मैंने अपने आत्मविश्वास को दृढ़ रखते हुए, आचार्य मानतुङ्ग द्वारा रचित 'भक्तामर स्तोत्र' पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के गुजराती प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद करना प्रारम्भ कर दिया। मन में थोड़ा भय भी था कि आचार्य के भावों का मुझसे कहीं अर्थ का अनर्थ न हो जाए लेकिन इस भय को दूर करने के लिए मेरे आदरणीय भाईसाहब देवेन्द्रकुमारजी ने मुझे प्रेरणा दी। उन्होंने अभी तक पूज्य गुरुदेवश्री के अनेक गुजराती प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन किया है, वे प्रवचन आज मुमुक्षु समाज में पूर्ण प्रामाणिकता के साथ काफी उत्साहपूर्वक पढ़े जाते हैं। भाईसाहब की प्रेरणा से ही मैं अपना कार्य पूर्ण कर पायी हूँ। मैं उनका हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ।

यह मेरा अनुवाद का पहला कार्य है, अत: निश्चित ही त्रुटियाँ रही होंगी, परन्तु मुझे विश्वास है कि इस ग्रन्थ का सम्पादन कार्य भाईसाहब देवेन्द्रकुमारजी ने किया है, जिससे आपको उन त्रुटियों का आभास नहीं होगा। अनुवाद करते समय मानतुङ्ग आचार्य के भाव और उस पर पूज्य गुरुदेवश्री के मार्मिक प्रवचन से उद्‌घाटित रहस्य को समझने का अवसर प्राप्त हुआ – यह मेरे लिए हर्ष का विषय है।

पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद करके मुझे बहुत अच्छा लगा। भविष्य में भी ऐसे आत्महितकारक कार्य करने के अवसर मुझे प्राप्त होते रहेंगे – ऐसी आशा है। जो त्रुटियाँ इस ग्रन्थ का अनुवाद करते समय मुझसे हुई, आगे से उन त्रुटियों को दूर करने का प्रयास करूँगी।

आध्यात्मिक रस का तो जितना रसास्वादन करने का अवसर मिले, करना ही चाहिए। सभी साधर्मीजन इस ग्रन्थ का अध्ययन करके मुक्तिपथ की ओर बढें – यही भावना है।

कामना जैन
देहरादून

प्रस्तावना

परम पूज्य दिगम्बर मुनिराज श्री मानतुङ्गस्वामी द्वारा रचित 'भक्तामर स्तोत्र' पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मङ्गल प्रवचनों का प्रकाशन, '**भक्तामर रहस्य**' जिनधर्म प्रेमी साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

भक्तामर स्तोत्र एक भक्ति काव्य है, जिसमें इस युग के आदि तीर्थङ्कर भगवान श्री आदिनाथ की स्तुति की गयी है। इस भक्ति काव्य की सर्वाधिक विशेषता यह है कि इसे किञ्चित् फेरफार के साथ जैनसमाज के सभी दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय मानते हैं एवं प्रतिदिन के पाठ में सम्मिलित करते हैं, जो इसकी लोकप्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। यदि पाठ के साथ-साथ इसके गम्भीर अर्थ पर भी ध्यान दिया जाए तो निश्चित ही जिनभक्ति का वास्तविक लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

वस्तुत: जैनदर्शन व्यक्ति-पूजा में नहीं, गुणों की पूजा में विश्वास रखता है। यही कारण है कि जैन साहित्य में उपलब्ध प्राय: सभी स्तुतियों में गुणों के माध्यम से ही अपने आराध्य की स्तुति या भक्ति की गयी है।

जैन आगम में भक्ति का स्वरूप दर्शानेवाले कुछ आगम-उद्धरण इस प्रकार हैं —

अर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनेषु भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागः भक्ति।

अर्थात् अरहन्त, आचार्य, उपाध्याय आदि बहुश्रुत सन्तों और

जिनवाणी के प्रति भावों की विशुद्धिपूर्वक जो प्रशस्त अनुराग होता है, उसे **भक्ति** कहते हैं। *(– सर्वार्थसिद्धि, 6/24)*

अर्हदादिगुणानुरागो भक्तिः।

अर्थात् अर्हदादि के गुणों में प्रेम करना **भक्ति** है।

(– भगवती आराधना, 47/159)

मोक्खंगय पुरिसाणां गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि।
जो कुणदि परमभत्तिं ववहारणयेण परिकहियं॥

अर्थात् जो जीव, मोक्षगत पुरुषों के गुणों के भेद जानकर, उनकी भी परमभक्ति करता है, उस जीव को व्यवहारनय से **निवृत्ति भक्ति** कही है। *(– नियमसार, गाथा 135)*

भक्ति पुनः सम्यक्त्वं भण्यते, व्यवहारेण सरागसम्यग्दृष्टीनां पंचपरमेष्ठ्याराधनारूपा।

अर्थात् व्यवहार से सराग सम्यग्दृष्टियों के द्वारा पञ्च परमेष्ठी की आराधनारूप **सम्यक् भक्ति** होती है।

(– समयसार, तात्पर्यवृत्ति टीका, 173-176)

निजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानावबोधाचरणात्मकेषु शुद्ध-रत्नत्रयपरिणामेषु भजनं भक्तिराराधनेत्यर्थः।

अर्थात् निज परमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-अवबोध-आचरण -स्वरूप शुद्ध रत्नत्रयपरिणामों का जो भजन है; वह **भक्ति** है, आराधना है — ऐसा उसका अर्थ है। *(– नियमसार तात्पर्यवृत्ति टीका, गाथा 134)*

भक्तिः पुनः निश्चयेन वीतरागसम्यग्दृष्टिनां शुद्धात्मतत्त्व-भावनारूपा चेति।

अर्थात् निश्चयनय से वीतराग सम्यग्दृष्टियों के शुद्ध आत्मतत्त्व की भावनारूप **भक्ति** होती है। *(– समयसार, तात्पर्यवृत्ति टीका, 173-176)*

तात्पर्य यह है कि ज्ञानी धर्मात्माओं को, सविकल्पदशा में वीतरागी

देव-शास्त्र-गुरु के प्रति होनेवाला गुणानुरागरूप प्रशस्तभाव, व्यवहारभक्ति है और स्वशुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न वीतरागभावरूप शुद्धपरिणति व शुद्धोपयोग निश्चयभक्ति है।

नियमसार के परम भक्ति अधिकार में आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव एवं टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने निवृत्ति भक्ति का स्वरूप निश्चय-व्यवहारनयों से तीन गाथाओं में तथा योग भक्ति का स्वरूप चार गाथाओं में विस्तार से व्यक्त किया है, जो मूलरूप से पठनीय है।

आद्यस्तुतिकार आचार्य समन्तभद्र ने तो आप्त को नमस्कार करने से पूर्व उनमें आवश्यक गुणों की परीक्षा भी की है तथा जिनमें वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता विद्यमान हो, उन्हें ही आप्त के रूप में स्वीकृत किया है। आचार्यश्री का यह उपक्रम हमें परीक्षाप्रधानी होने की पावन प्रेरणा देता है।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने अपनी सर्वाधिक लोकप्रिय कृति मोक्षमार्गप्रकाशक में पूज्यत्व का कारण दर्शाते हुए लिखा है —

'रागादि विकारों से व ज्ञान की हीनता से तो जीव निन्दायोग्य होते हैं और रागादिक की हीनता व ज्ञान की विशेषता से जीव स्तुतियोग्य होते हैं।' *(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 4)*

इसी प्रकार का भाव पण्डित दौलतरामजी ने भी व्यक्त किया है —

तीन भुवन में सार, वीतराग विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार, नमहूँ त्रियोग सम्हारिके॥

(- छहढाला, मङ्गलाचरण)

इस प्रकार पूज्यत्व का कारण वीतराग-विज्ञानता ही है।

जैनमतानुसार ईश्वर अथवा आराध्य, वीतराग होने से न तो अपनी स्तुति से प्रसन्न ही होते हैं और न अपनी निन्दा से अप्रसन्न, फलत: वे

अपने प्रशंसकों को अथवा निन्दकों को इष्टानिष्ट फल नहीं देते; बल्कि जो जीव उनका सही स्वरूप पहिचानकर, उनकी भक्ति-स्तुति करता है, वह भी उन जैसा बनने की प्रेरणा पाकर, तदनुसार पुरुषार्थ करके उस दशा को उपलब्ध कर लेता है।

वीतरागी जिनेन्द्र परमात्मा का आराधक, वीतरागता का ही उपासक होता है; इस कारण उसके द्वारा की जानेवाली स्तुति अथवा भक्ति में किसी भी प्रकार की लौकिक कामना निहित नहीं होती।

आचार्य उमास्वामी के मतानुसार उपास्य की उपासना का एकमात्र प्रयोजन **वन्दे तद्गुणलब्धये,** अर्थात् 'उन जैसे गुणों की प्राप्ति है'। किसी भी लौकिक प्रयोजन से की जानेवाली भक्ति में भोगों एवं संयोगों की रुचि निहित रहने से पाप का ही बन्ध होता है। उससे धर्म तो होता ही नहीं, पुण्य भी नहीं होता।

इस सन्दर्भ में आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी का निम्न कथन विचारणीय है —

'अरहन्तादिक के नाम पूजनादिक से अनिष्ट सामग्री का नाश तथा इष्ट सामग्री की प्राप्ति मानकर, रोगादिक मिटाने के अर्थ व धनादिक की प्राप्ति के अर्थ नाम लेता है व पूजादिक करता है। सो इष्ट-अनिष्ट का कारण तो पूर्वकर्म का उदय है, अरहन्त तो कर्ता हैं नहीं। अरहन्तादिक की भक्तिरूप शुभोपयोग परिणामों से पूर्वपाप के संक्रमणादि हो जाते हैं, इसलिए उपचार से अनिष्ट के नाश का व इष्ट की प्राप्ति का कारण अरहन्तादिक की भक्ति कही जाती है परन्तु जो जीव प्रथम से ही सांसारिक प्रयोजनसहित भक्ति करता है, उसके तो पाप ही का अभिप्राय हुआ; काँक्षा, विचिकित्सारूप भाव हुए, उनसे पूर्व पाप के संक्रमणादि कैसे होंगे?'

(– मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 222)

अन्य दर्शनों की भाँति जैनदर्शन, भक्ति को मुक्ति का कारण भी स्वीकार नहीं करता। भक्ति तो कुस्थान में राग के निषेध के लिए की जाती है।

इस सन्दर्भ में पण्डित टोडरमलजी कहते हैं —

'कितने ही जीव, भक्ति को मुक्ति का कारण जानकर वहाँ अति अनुरागी होकर प्रवर्तते हैं। यह तो अन्यमती जैसे भक्ति से मुक्ति मानते हैं, वैसा ही इनके भी श्रद्धान हुआ परन्तु भक्ति तो रागरूप है और राग से बन्ध है, इसलिए मोक्ष का कारण नहीं हैं। जब राग का उदय आता है, तब भक्ति न करे तो पापानुराग हो; इसलिए अशुभराग छोड़ने के लिए ज्ञानी भक्ति में प्रवर्तते हैं और मोक्षमार्ग को बाह्य निमित्तमात्र भी जानते हैं परन्तु यहाँ ही उपादेयपना मानकर सन्तुष्ट नहीं होते; शुद्धोपयोग के उद्यमी रहते हैं।' *(- मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 222)*

इसी प्रकार का भाव पञ्चास्तिकाय में भी व्यक्त किया है —

इयं भक्तिः केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति। तीव्रराग-ज्वरविनोदार्थमस्थानरागनिषेधार्थं क्वचित् ज्ञानिनोपि भवति।

अर्थात् यह भक्ति केवल भक्ति ही है प्रधान जिनके, ऐसे अज्ञानी जीवों के होती है तथा तीव्र रागज्वर मिटाने के अर्थ या कुस्थान के राग का निषेध करने के अर्थ कदाचित् ज्ञानी के भी होती है।

(- पञ्चास्तिकाय, गाथा 136)

उक्त सम्पूर्ण कथन का आशय यह है कि जैनदर्शन में भक्ति को न तो मुक्ति का कारण माना गया है और न लौकिक भोगोपभोग सामग्री का प्रदाता। सचमुच में जिनेन्द्रदेव की भक्ति तो विषय-कषायरूप महा अशुभभाव से बचने के साथ-साथ स्वयं उन जैसा बनने के उद्देश्य से किया जानेवाला वह मन्दकषायरूप अनुष्ठान है, जो पुण्यबन्ध का कारण है तथा यदि जीव उस समय उन जैसा बनने के लिए शुद्धोपयोगरूप परिणमन करता है तो इस भक्ति के अनुष्ठान को निश्चयमोक्षमार्ग का साधक होने से परम्परा से मुक्ति का कारण भी कहा जाता है।

मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव ने तो नियमसार की टीका करते हुए कलश 12 में यहाँ तक कहा है — 'भव के भय के भेदनेवाले इन जिनेन्द्र

के प्रति क्या तुझे भक्ति नहीं है ? तब तो तू भवसमुद्र के मध्य स्थित मगर के मुख में स्थित है।'

इसी प्रकार आचार्य पद्मनन्दि ने अपने लोकप्रिय ग्रन्थ पद्मनन्दि-पञ्चविंशतिका में जिनेन्द्रभक्ति की महिमा का वर्णन करनेवाले कई प्रकरण लिखकर, अपने हृदय में समाहित जिनभक्ति को शाब्दिक अभिव्यक्ति प्रदान की है।

तार्किक चूड़ामणि आचार्य समन्तभद्र तो आद्यस्तुतिकार के रूप में जाने ही जाते हैं। उनके द्वारा रचित भक्ति काव्यों में जहाँ भगवान के भरपूर गुणगान किये गये हैं, वहीं भगवान को परीक्षा की कसौटी पर कसने से भी वे नहीं चूके हैं।

सुप्रसिद्ध दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध परमागम समयसार, प्रवचनसार एवं पञ्चास्तिकाय के टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने 'लघुतत्त्व स्फोट' नामक ग्रन्थ में चौबीस तीर्थङ्करों की अद्भुत स्तुति करते हुए उसमें जो तत्त्वज्ञान के मुक्ता-मोती बिखेरे हैं, वे अपने-आप में अद्भुत हैं एवं मूलतः पठनीय हैं।

इसी तरह जिनागम के रचयिता सभी भावलिङ्गी सन्तों ने यत्र-तत्र-सर्वत्र अपने ग्रन्थों में जिनभक्ति के स्वर गुञ्जायमान किये हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित प्रवचनसार परमागम में, मङ्गलाचरण की पाँच गाथाओं की टीका में, आचार्यश्री अमृतचन्द्रदेव ने ज्ञानी मुनिराजों के हृदय में उत्पन्न भक्तिभाव का कारण, उनकी भूमिका में विद्यमान कषायकण को माना है। साथ ही पञ्चास्तिकाय में तो अरहन्तादि के प्रति जिसका चित्त अनुराग से प्रेरित है, उसका निर्वाण अतिशय दूर है — ऐसा भी प्रतिपादित किया है। मूल गाथा इस प्रकार है —

सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स।
दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसंपउत्तस्स॥

(- पञ्चास्तिकाय, गाथा 170)

सचमुच ही ज्ञानियों के जीवन की यह द्विरूपता आश्चर्यजनक सत्य है। एक ओर जहाँ वे भक्ति के राग को कषायकण या निर्वाण दूरतर है — इत्यादि कहकर उपेक्षित करते हैं; वहीं दूसरी ओर रागात्मक भूमिका में भगवत् भक्ति से पराङ्गमुख जीवों को भवसमुद्र में डूबा हुआ कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि श्रद्धा में राग को अत्यन्त उपेक्षणीय मानते-जानते हुए भी, जब तक सम्पूर्ण राग का अभाव नहीं हो जाता, ज्ञानीजनों को भी जिनेन्द्रभक्ति इत्यादि का शुभभाव आए बिना नहीं रहता।

यद्यपि शुभराग आना चारित्रिक कमजोरीरूप दोष है परन्तु शुभराग को उपादेय मानना तो विपरीत श्रद्धारूप महा-अपराध है। दोष क्षम्य हो सकता है; अपराध नहीं।

जिनेन्द्र भक्ति एवं ज्ञानीजनों की अन्तर्बाह्य परिणति के सन्दर्भ में ये सब ऐसे तथ्य हैं, जिन्हें ज्ञानीजनों की एक लम्बी परम्परा ने उद्‌घाटित किया है। उन्हीं ज्ञानीजनों की परम्परा के पुनीतप्रवाह में, वर्तमान सदी के महापुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने अपने प्रवचन एवं तत्त्वचर्चाओं में इन सभी तथ्यों का आत्महितकारी तर्कपूर्ण समाधान प्रस्तुत कर, मुमुक्षु जगत को धन्य कर दिया है।

इस प्रकार यहाँ भक्ति के सन्दर्भ में कुछ विचारणीय तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं। विस्तार से जानने की अभिलाषावाले विज्ञपाठकों को जिनागम का गहन अभ्यास करना चाहिए।

निश्चयभक्ति के स्वरूप का परिज्ञान करने के लिए समयसार गाथा 31 से 33 तक के प्रकरण पर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। ज्ञात हो कि पूज्य गुरुदेवश्री को भी उक्त गाथाएँ अत्यन्त प्रिय थीं और इन पर उन्होंने विस्तार से प्रवचन भी किये हैं, जिनका लाभ प्रवचनरत्नाकर अथवा प्रवचनों की सी.डी. / कैसेट के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है।

वर्तमान युग में समयसारादि अध्यात्म ग्रन्थों के हार्द को अपने

मङ्गल प्रवचनों के माध्यम से सरलतम भाषा में प्रस्तुत करनेवाले पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने कई भक्तिपरक काव्यों पर भी भावविभोर होकर प्रवचन किये हैं, जो उनके हृदय में विद्यमान जिनेन्द्रभक्ति के अमर स्मारक हैं। इस स्तोत्र के भावों को माध्यम बनाकर पूज्य गुरुदेवश्री ने अध्यात्म की अलौकिक युक्तियाँ इसमें से निकाली हैं। गुरुदेवश्री के स्तोत्रों पर आधारित प्रवचनों में भक्तामर स्तोत्र, विषापहार स्तोत्र, ऋषभ स्तोत्र, जिनदर्शन स्तोत्र एवं शान्तिनाथ स्तोत्र इत्यादि प्रमुख हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री के निश्चयपरक प्रवचनों के भरपूर प्रकाशन एवं व्यवहारपरक प्रवचनों का उस मात्रा में प्रकाशन न होने से, जनसाधारण में उनके प्रति इस प्रकार की भ्रान्त धारणा बलवान हो गयी कि स्वामीजी व्यवहार को उड़ाते हैं। जबकि सत्य तो यह है कि पूज्य गुरुदेव ही वर्तमान शताब्दी में निश्चयसापेक्ष व्यवहार के एकमात्र स्थापितकर्ता हैं। स्वयं उनके श्रावकधर्मप्रकाश, मुक्ति का मार्ग, अमृतझरना, विषापहार प्रवचन इत्यादि इसके सबल प्रमाण हैं।

इसी शृङ्खला की कड़ीरूप में भक्तामर स्तोत्र पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के गुजराती प्रवचनों को अनुवादित-सम्पादित कर प्रकाशन किया जा रहा है।

मुनिराज मानतुंग द्वारा रचित इस स्तोत्र में अड़तालीस काव्य हैं और एक-एक काव्य में जिनेन्द्रदेव की अलग-अलग प्रकार से स्तुति कर वीतरागता की अनुमोदना व्यक्त की है। इस काव्य में जहाँ भगवान के आन्तरिक वैभव की स्तुति की गयी है, वहीं अष्ट प्रतिहार्य इत्यादि बाह्य वैभव की स्तुति करके भी विशुद्ध अध्यात्म की धारा बहायी गयी है। इसी प्रकार जिनेन्द्र के भक्त को कौन-कौन से भय नहीं होते? - यह प्रतिपादन भी सहजरूप में हुआ है, उसमें कहीं ईश्वर कर्तृत्व की गन्ध भी नहीं आ पायी है। इससे स्पष्ट होता है कि इस काव्य के रचनाकार वीतरागी मुनिराज श्री मानतुंग, भक्त तो है, परन्तु अन्धभक्त

नहीं। मुनिराजश्री द्वारा अत्यन्त निस्पृह भाव से की गयी इस स्तुति को आधार बनाकर इसके साथ मन्त्र-तन्त्र एवं तथाकथित कथाओं के माध्यम से जिस कर्तावाद का ज़हर घोल दिया गया है, हमें उससे बचना चाहिए।

प्रस्तुत प्रकाशन के सन्दर्भ में –

इस प्रवचन ग्रन्थ में मूल श्लोक, उसका हिन्दी पद्यानुवाद और **ब्रह्मचारी हरिलाल जैन, सोनगढ़** द्वारा सङ्कलित **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** के प्रवचन दिये गये हैं। साथ ही प्रत्येक काव्य का प्रासङ्गिक चित्र भी दिया गया है, जिससे काव्य का भाव मुखर हो गया है।

इन अमूल्य प्रवचनों की अनुपम भेंट देकर आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करनेवाले **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** के प्रति एवं इन प्रवचनों के गुजराती सङ्कलनकार के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

इन सभी कार्यों के शक्तिप्रदाता परम उपकारी **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** ही हैं, उनका ही सबकुछ इस ग्रन्थ में है। साथ ही पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति भक्ति उत्पन्न कराने में निमित्तभूत अपने विद्यागुरु एवं पूज्य गुरुदेवश्री के अनन्यभक्त **पण्डित श्री कैलाशचन्द जैन, अलीगढ़** हैं, जिनके पावन चरणों में रहकर तत्त्वज्ञान सीखने का अवसर प्राप्त हुआ है। अपने जीवनशिल्पी इन दोनों महापुरुषों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

प्रस्तुत गुजराती प्रवचनों के हिन्दी रूपान्तर के लिए अपनी छोटी बहिन **कामना जैन, देहरादून** को हार्दिक शुभाशीष प्रदान करते हुए अपेक्षा करता हूँ कि वे भविष्य में भी इस कार्य को निरन्तर जारी रखते हुए स्वयं का आत्म-कल्याण करने के साथ-साथ जिनशासन की प्रभावना के लिए भी प्रयत्नशील रहेंगी।

गुरुदेवश्री के इन प्रवचनों के प्रकाशन के प्रेरक **पण्डित प्रदीपकुमार झाँझरी, उज्जैन; भाईसाहब पवन जैन, अलीगढ़** एवं **पण्डित अशोक -कुमार लुहाड़िया** के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। प्रूफ संशोधन कार्य के लिए **डॉ. सतीश जैन शास्त्री, अलीगढ़** भी धन्यवाद के पात्र हैं।

इस सङ्कलन में विद्यमान सभी विशेषताएँ पूज्य गुरुदेवश्री की हैं और जो कुछ कमियाँ रहीं, उनका जिम्मेदार मैं अल्पज्ञ हूँ; अतः विज्ञपाठकों से यह अपेक्षा है कि वे कमियों की ओर ध्यान आकृष्ट करें, जिससे उनकी पुनरावृत्ति से बचा जा सके एवं आगामी संस्करण में उन्हें सुधारा जा सके।

सभी जीव इन प्रवचनों के द्वारा जिनभक्ति का सम्यक्स्वरूप पहिचान कर आत्मसन्मुखता प्राप्त करें — इस भावना से विराम लेता हूँ।

देवेन्द्रकुमार जैन

दिनाङ्क - 20 सितम्बर 2009 **तीर्थधाम मङ्गलायतन**

अनुक्रमणिका

काव्य : 1-2	1
काव्य : 3	27
काव्य : 4	38
काव्य : 5	43
काव्य : 6	47
काव्य : 7	52
काव्य : 8	58
काव्य : 9	62
काव्य : 10	69
काव्य : 11	75
काव्य : 12	81
काव्य : 13	87
काव्य : 14	90
काव्य : 15	95
काव्य : 16	99
काव्य : 17	104
काव्य : 18	109
काव्य : 19	113
काव्य : 20	117
काव्य : 21	121
काव्य : 22	126
काव्य : 23	130
काव्य : 24	134
काव्य : 25	143
काव्य : 26	147
काव्य : 27	152
काव्य : 28	157
काव्य : 29	162
काव्य : 30	166
काव्य : 31	170
काव्य : 32	173
काव्य : 33	176
काव्य : 34	179
काव्य : 35	182
काव्य : 36	187
काव्य : 37	191
काव्य : 38	196
काव्य : 39	202
काव्य : 40	209
काव्य : 41	215
काव्य : 42	220
काव्य : 43	223
काव्य : 44	227
काव्य : 45	230
काव्य : 46	234
काव्य : 47	239
काव्य : 48	242

के.के.पी.पी.एस. द्वारा अभिनव योजना

यदि आप शिविर आयोजित करना चाहते हैं तो निम्न आवश्यकता पूर्ण करें।

अखिल भारतीय शिक्षण शिविर हेतु योजना –

1. समाज में पूरी एकता एवं ज्ञान यज्ञ का माहौल / वातावरण हो।
2. लगभग 400 व्यक्तियों के आवास की सुन्दर व्यवस्था हो।
3. 700–800 व्यक्तियों के बैठने के लिए शेडवाला प्रवचन हॉल हो, भोजनशाला हो।
4. इस कार्य की सम्पन्नता हेतु आर्थिक दृष्टि से आपके पास पर्याप्त फण्ड हो।
5. शिविर हेतु उत्साहित कार्यकर्ता की टीम तैयार हो।
6. शिविर संयोजक बनने योग्य उत्साह से भरपूर कर्मठी, प्रतिभावान, प्रभावी, समर्पित, धर्मात्मा व्यक्ति आपके गाँव में हो। (ट्रस्टी को प्राथमिकता)
7. तो लगाईये शिक्षण शिविर। इस मङ्गलकार्य के लिए के.के.पी.पी.एस. से 25 हजार रुपये सहयोग राशि एवं साथ ही बाल संस्कार शिविर भी हो तो 10 हजार रुपये की सहयोग राशि के साथ विद्वान व्यवस्था एवं सम्पूर्ण योजना के साथ समर्पित है।

अखिल भारतीय बाल संस्कार शिविर हेतु योजना –

1. बाहर से आनेवाले बालकों के ठहरने एवं भोजन की व्यवस्था हो।
2. स्थानीय एवं बाहर से आनेवाले बच्चों की संख्या लगभग 500 से अधिक हो।
3. इस शिविर में विशाल रैली का आयोजन हो।
4. इस शिविर हेतु के.के.पी.पी.एस. 10 हजार रुपये की राशि एवं किट की व्यवस्था एवं अन्य सहयोग हेतु कृत सङ्कल्पित है।

स्थानीय बाल संस्कार शिविर हेतु योजना

1. कम से कम उपस्थिति 300 बालकों की होना चाहिए।
2. बच्चों को नाश्ते की व्यवस्था हो।
3. इस शिविर में विशाल बाल रैली का आयोजन हो।
4. इस कार्य हेतु के.के.पी.पी.एस. द्वारा 2500 रुपये की राशि एवं किट (पेन, बेग एवं नोटबुक आदि का) सहयोग दिया जाएगा।
5. शिविर संयोजक आयोजक, सौजन्यकर्ता, आमन्त्रणकर्ता, ध्वजारोहण आदि पद उत्सुक व्यक्ति को बनाकर आर्थिक सहयोग लेकर कार्य को गतिमान करें।
6. जरूरत पड़ने पर विद्वानों की व्यवस्था के.के.पी.पी.एस. द्वारा की जावेगी।

विशाल बाल संस्कार ग्रुप शिविर हेतु योजना

1. अपना जिला एवं आसपास के जिले मिलाकर करीब 50 जगह एक साथ एक ही तिथि यह शिविर आयोजित किया जाता है।
2. पण्डित वर्ग से सम्पर्क चाहिए।
3. अति उत्साहवान तत्त्व प्रभावना के भरपूर भावनावाला संयोजक होगा।
4. ग्रुप शिविर के प्रत्येक नगर के लिये के.के.पी.पी.एस. द्वारा 1000 रुपये एवं किट (पेन, कापी एवं बेग) की सहयोग प्रदान किया जाएगा।
5. बाल शिविर में आर्थिक सहयोग स्थानीय सम्पन्न समाज से लेना होगा।

ॐ

॥ श्री आदिनाथाय नमः ॥

भक्तामर रहस्य

काव्य : 1-2

भक्तामरप्रणत मौलि-मणि-प्रभाणा-
मुद्योतकं दलित-पाप-तमो-वितानम्।
सम्यक्प्रणम्य जिन-पाद-युगं युगादा-
वालम्बनं भव-जले पततां जनानाम्॥ १॥

भक्त अमर नत मुकुट सुमणियों की सु-प्रभा का जो भासक।
पापरूप अतिसघन तिमिर का ज्ञान-दिवाकर-सा नाशक॥
भव-जल पतितजनों को जिसने, दिया आदि में अवलम्बन।
उनके चरण कमल को करते, सम्यक् बारम्बार नमन॥ १॥

यः संस्तुतः सकल-वाङ्मय-तत्व-बोधा-
दुद्भूत-बुद्धि-पटुभिः सुर-लोक-नाथैः।
स्तोत्रै - र्जगत्त्रितयचित्त - हरैरुदारैः
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम्॥ २॥

सकल वाङ्मय तत्त्वबोध से, उद्भव पटुतर धी-धारी।
उसी इन्द्र की स्तुति से है, वन्दित जग-जन मन हारी॥
अति आश्चर्य की स्तुति करता, उसी प्रथम जिनस्वामी की।
जगनामी-सुखधामी तद्भव – शिवगामी अभिरामी की॥ २॥

काव्य : 1-2 पर प्रवचन

इस भक्तामर स्तोत्र के रचयिता स्तुतिकार श्री मानतुङ्ग मुनिराज कहते हैं कि मैं उन प्रथम जिनेन्द्र श्री ऋषभदेव का स्तवन करूँगा, जिनके चरणों में **भक्त-अमर**, अर्थात् भक्तिवन्त देव, नमन कर रहे हैं। उन देवों के मुकुट की मणि की प्रभा को उद्योत करनेवाले; पाप-तिमिर, अर्थात् पापरूपी अन्धकार के समूह को हरनेवाले और भवसागर में डूबते जनों को तारने के लिए धर्मयुग के प्रारम्भ में आलम्बनरूप – ऐसे प्रथम जिनेन्द्र के पादयुगल में 'सम्यक्भाव से' नमस्कार करके, मैं उनकी स्तुति करूँगा।

मैं जिनकी स्तुति करता हूँ – ऐसे जिनेन्द्रदेव की स्तुति

बड़े-बड़े पुरुषों ने भी की है। समस्त शास्त्र के ज्ञान से जिनकी बुद्धि उद्भट-पारङ्गत है – ऐसे कुशल इन्द्रों ने, तीन लोक के चित्त को प्रसन्न करे – ऐसे सुन्दर-उत्तम स्तोत्र से जिनकी स्तुति की है, उन आदि जिनेन्द्र का मैं भी इस उत्तम स्तोत्र से स्तवन करूँगा। स्तुति करने योग्य – ऐसे इष्टदेव परमश्रेष्ठ वीतराग सर्वज्ञ हैं तो उनके गुण की स्तुति भी श्रेष्ठ ही होगी न!

इस भरतक्षेत्र में भूतकाल की चौबीसी के अन्तिम तीर्थङ्कर के मोक्ष जाने के बाद 18 कोड़ाकोड़ी सागरोपम के अन्तराल में इस चौबीसी में पहले तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेव हुए, उन्होंने इस युग में धर्म की शुरुआत की; भवसागर से तिरने का उपाय बताकर उन्होंने इस भरतक्षेत्र में धर्मयुग का प्रारम्भ किया। दिव्यध्वनि से वीतरागता और सर्वज्ञता का मार्ग स्पष्ट करके, अनेक जीवों को मोक्षमार्ग में लगाया और भवसागर से पार किया; इस प्रकार धर्मयुग के प्रणेता श्री आदिनाथ जिनेन्द्र के चरणों में नमस्कार करके स्तुति का आरम्भ करता हूँ – ऐसा कहकर मानतुङ्ग मुनिराज ने इस स्तुति में जिनेन्द्र-महिमा का अद्भुत प्रपात बहाया है।

हे प्रभो! भक्ति से भरे हुए चित्त से इन्द्रादि-भक्तदेव जब आपके चरणों में झुकते हैं, तब आपके नख की प्रभा से उन देवों के मुकुट की मणि जगमगा उठती है। अहा! इन्द्र की मुकुटमणि के दिव्य तेज से भी आपके एक नख की प्रभा बढ़ जाती है। अहो! तीर्थङ्कर के रूप की दिव्यता की तो क्या बात! इन्द्र का रूप भी जिनके सामने फीका पड़ जाता है – ऐसा तो जिनकी देह का रूप है, तब उनके आत्मा के अतीन्द्रियरूप

की तो बात क्या करें! उन्हें केवलज्ञान खिल गया, उसकी महिमा की क्या बात! देखो, सर्वज्ञ की स्तुति में जिनगुण चिन्तन के साथ-साथ आत्मा की महिमा का घोलन भी चल रहा है, यही सच्ची स्तुति है, इसका ही वास्तविक लाभ है।

प्रभो! हमें देवेन्द्र के मुकुट की महिमा भासित नहीं होती, हमें तो आपके नख की प्रभा की महिमा भासित होती है। हे नाथ! आपके चरणों की दिव्यप्रभा के समक्ष इन्द्र का मुकुटमणि हमें फीका लगता है। आपका आत्मा चैतन्यप्रभा से झगमगा उठा है, मानों उसकी झाँईं नख में से भी उठ रही हो – ऐसे दिव्य चमत्कार से आपके नख की प्रभा झलक रही है और वह नख का प्रकाश इन्द्र के मुकुट की मणि पर पड़ता है, जिससे वह मणि सुशोभित हो रही है।

देखो! इन्द्र की मुकुटमणि का प्रकाश भगवान के नख पर पड़ता है – ऐसा नहीं कहा, अपितु भगवान के नख का प्रकाश इन्द्र के मुकुट पर पड़ रहा है – ऐसा कहकर, इन्द्र के मुकुट की अपेक्षा भगवान के चरण की महत्ता बतलायी है। हे नाथ! इन्द्र का मुकुट भी आपके चरणों में झुकता है, उससे ही उसकी शोभा है।

सौधर्म इन्द्र के पास 32 लाख देव-विमान की ऋद्धि है परन्तु भगवान की स्तुति करते हुए वह कहता है कि हे प्रभो! केवलज्ञानमय आपकी दिव्य चैतन्यऋद्धि के सामने हमारी इस पुण्य की ऋद्धि की कोई कीमत नहीं है। नाथ! धर्मी को पूज्य और आदरणीय तो यह चैतन्यऋद्धि है। इस प्रकार स्तुतिकार,

पुण्य और धर्म के बीच अन्तर करके स्तुति करते हैं।

जिसके हृदय में पुण्य के वैभव का बहुमान होता है, उसे वीतरागी चैतन्यऋद्धि के प्रति सच्ची भक्ति उल्लसित नहीं होती और उसका सच्चा बहुमान जागृत नहीं होता। जिसे वीतरागी केवलज्ञान का बहुमान जागृत हुआ, उसे राग अथवा राग के फल का बहुमान नहीं आता। राग और वीतरागता, अर्थात् पुण्य और धर्म – ये दोनों चीजें ही पृथक् हैं; दोनों का बहुमान एकसाथ नहीं रह सकता।

हे भगवान! भक्तदेव आपके चरणों में नमन करते हैं। देवों के स्वामी – ऐसे इन्द्र भी आपके चरणों में भक्तिपूर्वक नमन करते हैं और आपकी सर्वज्ञता का बहुमान करते हैं, इससे हम यह समझते हैं कि राग के फलरूप इन्द्रपद की अपेक्षा वीतरागता से प्राप्त सर्वज्ञपद, जगत् में श्रेष्ठ और आदरणीय है। चैतन्य की उत्कृष्ट वीतराग पदवी के सामने जगत् के सभी पद तुच्छ भासित होते हैं।

अहा! सर्वज्ञता की अचिन्त्यऋद्धि के सामने इन्द्र की ऋद्धि भी तृणवत् तुच्छ है। जगत् में उत्तम पुण्यवन्त इन्द्र भी तीर्थङ्कर और वीतरागी सन्तों-मुनियों के चरणों में आदर से मस्तक झुकाते हैं और इस दशा की भावना भाते है, वह ऐसा प्रसिद्ध करता है कि पुण्य की अपेक्षा पवित्रता पूज्य है, आदरणीय है।

इन्द्र स्वयं समकिती है। उसे स्वयं राग की, पुण्य की या उसके फल की कोई रुचि नहीं है। जिन्हें पुण्य की रुचि होती है, उन्हें उच्च पुण्य नहीं बँधता और वे इन्द्रपद को प्राप्त

नहीं करते हैं। राग का निषेध करके, चैतन्य की साधना करते –करते बीच में ऐसा उच्च पुण्य बँध गया और इन्द्रपद मिल गया, उस इन्द्र की पुण्यऋद्धि अपार है। वह कहता है – हे नाथ! हमारी यह ऋद्धि उत्कृष्ट नहीं, अपितु आपकी चैतन्यऋद्धि उत्कृष्ट है। सुख तो चैतन्यऋद्धि में ही है, इस बाह्यऋद्धि में किञ्चित्मात्र भी सुख नहीं है। प्रभो! हमारे हृदय में आपकी चैतन्यऋद्धि बसती है, उसकी ही हम स्तुति करते हैं, उसे ही हम वन्दन करते हैं और उसी का हम ध्यान करते हैं।

प्रभो! हमारा मस्तक आपके चरणों झुका सो झुका; अब वह किसी काल में किसी दूसरे के सामने नहीं झुकेगा। आपकी भक्ति का अवलम्बन लेने से हम भवसागर से तिर जाएँगे; अर्थात्, वीतरागभावना का घोलन करने से राग को तोड़कर सर्वज्ञता को प्राप्त कर लेंगे। आपकी भक्ति करके, हम आपके जैसे हो जाएँगे।

भगवान जैसे भाव स्वयं में प्रगट करना ही भगवान की परमार्थस्तुति है। देहादि से भिन्न चिदानन्दस्वभाव को जानना; अर्थात्, सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही अरहन्तदेव की पहली परमार्थ स्तुति है – यह बात श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समयसार की 31 वीं गाथा में अलौकिक रीति से समझायी है। ऐसी निश्चयस्तुति के साथ जो व्यवहारस्तुति होती है, वह भी अलौकिक होती है।

अहा! जिसे चैतन्य की परमात्मदशा साधना है / प्राप्त करना है, उसे इस दशा को साध चुके तथा साध रहे जीवों के प्रति,

अर्थात् देव-गुरु के प्रति अतिशय प्रमोद और भक्ति का बहुमान उल्लसित होता है। नियमसार में श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं –

भवभयभेदिनी भगवति भवतः किं भक्तिरत्र न समस्ति।
तर्हि भवाम्बुधिमध्यग्राहमुखान्तर्गतो भवसि॥ 12॥

अर्थात् अरे जीव! भव भय का भेदन करनेवाले भगवान के प्रति क्या तुझे भक्ति नहीं है? यदि नहीं है तो तू भवसमुद्र के मध्य में रहे हुए मगर के मुँह में पड़ा है।

यहाँ तो कहते हैं कि हे नाथ! इस युग के आदि (आरम्भ) में, भव्यजीवों को भवसागर से तिरने के लिए आप, जहाज के समान हो। आपका अवलम्बन लेकर; अर्थात्, परमार्थ से सर्वज्ञस्वभाव का अवलम्बन लेकर, हम इस भवसागर से तिर जाएँगे।

मानतुङ्गस्वामी ने इस स्तुति में अलौकिकभाव भर दिये हैं। ऐसे तो यह स्तुति ऋषभदेव भगवान को सम्बोधित करके की गयी है परन्तु यह सभी तीर्थङ्कर भगवन्तों के लिए लागू होती है। गुण-अपेक्षा से एक तीर्थङ्कर की स्तुति में अनन्त तीर्थङ्कर की स्तुति समा जाती है। जिनगुणस्तवन द्वारा जिसने ज्ञान और राग के बीच भेदज्ञान करके सर्वज्ञस्वभाव का विश्वास किया, वह जीव, स्वभाव के घोलन से केवलज्ञान प्रगट करके सिद्धपद अवश्य प्राप्त करेगा।

'**भक्तामर**' – इसमें भक्त और अमर – ऐसे दो शब्दों की सन्धि है; अमर, अर्थात् देव; इन्द्रादि देवों की आयु बहुत लम्बी, अर्थात् असंख्य वर्षों की होती है; इसलिए उनको अमर

कहते हैं; यद्यपि वहाँ भी फिर से मरण तो होता ही है। जहाँ मनुष्य और तिर्यञ्च रहते हैं, वह मध्यलोक है; ऊपर ऊर्ध्वलोक में सौधर्म आदि 16 स्वर्ग हैं, उसके ऊपर नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश तथा पाँच अनुत्तर विमान (सर्वार्थसिद्धि आदि) हैं; उसमें असंख्य देव रहते हैं, वे सब एक भवावतारी है; इसलिए वहाँ से सीधे मनुष्यभव प्राप्त कर, उसी भव से मोक्ष प्राप्त करेंगे। स्वर्ग की ऊँची पदवी, उसमें इन्द्रादि पद, जिनेन्द्रदेव के भक्त प्राप्त करते हैं; अन्य को इतनी ऊँची पदवी के योग्य पुण्य नहीं होता।

स्वर्ग के देव नजर आयें, वहाँ साधारण अज्ञानी तो विस्मित हो जाता है, उसे ऐसा लगता है कि भगवान ने दर्शन दिये, परन्तु भाई! स्वर्ग का देवपना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। स्वर्ग के ये पुण्य पुतले भी परमात्मा के चरणों में अत्यन्त भक्ति से झुकते हैं और भगवान के नख की प्रभा से उनकी मुकुट की मणि जगमगा उठती है।

यहाँ आचार्य कहते हैं कि हे जिनेन्द्र! इन्द्र को मणिरत्नों से जगमगाता हुआ जो ऐसा मुकुट मिला है, वह आपके चरणों की भक्ति के प्रताप से ही मिला है। जिसने जिनेन्द्रदेव के चरणों की भक्ति नहीं की, उसे इन्द्रपद प्राप्त नहीं होता; वह तो भवसागर के बीच में मगर के मुख में पड़ा है। इसमें तीर्थङ्कर को उत्तम पवित्रता के साथ उत्तम पुण्य कैसा होता है? उसकी भी सन्धि बतायी है। यहाँ तीर्थङ्कर को भी रोगादि होना कहनेवाले ने तो भगवान के बाह्यस्वरूप (पुण्य) को भी नहीं पहचाना

है; अन्तरङ्ग पवित्रता की तो क्या बात करें?

यह तो वीतरागस्वभाव के विवेकपूर्वक की अलौकिक भक्ति है। प्रभो! आपकी स्तुति करते-करते जहाँ हमने आपकी सर्वज्ञता को प्रतीति में लिया, वहाँ तो मिथ्यात्वादि के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं; पाप का समूह छिन्न-भिन्न होकर दूर भागता है; हमारी चेतना आनन्दित होती है और उपद्रव शान्त हो जाते हैं – ऐसा इस स्तुति का फल है क्योंकि यह निश्चयसहित की गयी व्यवहारस्तुति है।

जहाँ वीतराग स्वभाव के घोलनपूर्वक जिनेन्द्र भगवान की भक्ति उल्लसित होती है, वहाँ पवित्रता के साथ पुण्य के रस की भी वृद्धि होती है और उसके कारण कभी बेड़ी टूटने आदि का चमत्कार भी हो जाता है; इसलिए उसे स्तुति का फल कहने में आता है। वर्तमान में उस प्रकार के पुण्य का योग हो तो ऐसा हो जाता है और कभी वर्तमान में पुण्य का योग न हो तो ऐसा नहीं भी होता, परन्तु अन्दर में तो वीतरागस्वभाव के बहुमान से जिनभक्ति की पवित्रता बढ़ती जाती है और पुण्य का रस भी बढ़ जाता है – यह नियम है।

भगवान का भक्त कहता है – हे नाथ! पुण्य के फल में यह देवादि ऋद्धि मिली, उसका हमें मूल्य नहीं है। आपने जो सर्वज्ञता और वीतरागभाव प्रगट किया है, वह अजोड़ महिमावन्त है, जगत् में इसकी तुलना नहीं है, इसकी हमें महिमा है; इसलिए हम आपके चरणों में झुकते हैं और आपके ही गुणगान करते हैं। आपके गुणगान करते-करते बीच में पुण्य

तो एक दास की भाँति आकर खड़ा हो जाता है परन्तु उसको हम झुकते नहीं हैं, उसकी ओर हमारा झुकाव नहीं है; हमारा झुकाव तो आपके समान वीतराग–सर्वज्ञस्वभाव की तरफ ही है।

देखो, यह भगवान का भक्त! जो ऐसे भाव से भगवान की भक्ति करने के लिए खड़ा हुआ, उसकी भक्ति के रङ्ग में भङ्ग नहीं पड़ता। वह वीतरागस्वभाव को भूलकर, बीच में कभी राग का आदर नहीं करता; बाहर में लक्ष्य जाए तो वीतराग अरहन्तदेव का आदर और अन्दर में लक्ष्य जाए तो वीतराग आत्मस्वभाव का अनुभव; इसके विरुद्ध अन्य किसी का आदर नहीं करता; इसलिए अब वीतरागस्वभाव के आदर से राग को तोड़कर वीतराग होगा ही।

अहा! केवलज्ञान के अनन्त प्रकाश से खिली प्रभु की ज्ञानप्रभा की तो क्या बात! परन्तु तीर्थङ्कर भगवान के समवसरण की शोभा भी, और उनकी देह की शोभा भी कोई दिव्य–अद्भुत होती है। इन्द्र के मुकुट की अपेक्षा जिनके नख की प्रभा विशेष है – उनके सर्वाङ्गरूप की क्या बात! अरे, यहाँ उन भगवान का नमूना नहीं है; किस प्रकार बतायें? विदेहक्षेत्र में तो अभी साक्षात् सीमन्धर भगवान आदि तीर्थङ्कर विराजमान हैं। भगवान के दिव्य दर्शन तो नजरों से किये हों, उन्हें ख्याल आता है। अहा, प्रभो! आपके नख की प्रभा से इन्द्र का मुकुट जगमगाता है और आपकी ज्ञानप्रभा से तो समस्त लोकालोक चमकता है – आपकी महिमा की क्या बात करें?

भगवान के नख, बीच से गोलाकार जैसे थोड़े–से उभरे

हुए दोनों तरफ से ढले हुए, बीच से सहज लालपने की झाँईवाले, जगमगाते हुए होते हैं और उनमें से रङ्ग-बिरङ्गी किरणें छूटती हैं, चारों ओर इसकी प्रभा फैलती है। जब इन्द्र नमस्कार करते हैं, तब उनके मुकुट का प्रतिबिम्ब भगवान के नख में पड़ता है और नख की किरणें मुकुट मणि पर पड़ती हैं, इसलिए इन्द्रधनुष जैसी रङ्ग-बिरङ्गी झाँई झलक उठती है। यहाँ स्तुतिकार कहते हैं कि हे प्रभो! हमें जगत् के मणि-मुकुट की महिमा भासित नहीं होती, आपके चरणों की भक्ति के सामने मणि-मुकुट फीके लगते हैं। हमें जगत् का वैभव प्रिय नहीं, हमें तो आपके चरणों की भक्ति ही प्रिय है।

देखो, अन्तर में सर्वज्ञपद को साधते-साधते साधक सन्तों को भगवान के प्रति भक्ति का प्रेम उल्लसित हुआ है! जैसे, संसार में पुत्र के विवाह के समय जिसे उस जाति प्रेम होता है, वह कैसे गीत गाता है? – 'मैंने तो मोतियों के थाल भरे

हैं, आँगन में हाथी झूलता है और मेरे सोने का सूरज उगा है।' – ऐसे प्रेम और उमङ्ग से गाते हैं, भले ही घर में इनमें से एक भी न हो; घर में एक भी सच्चा मोती न हो और हाथी बाँधने जितनी जगह भी न हो, फिर भी वहाँ तो झूठी महिमा करके गाते हैं, जबकि यहाँ तो भगवान में जो गुण विद्यमान है, उनकी सच्ची प्रशंसा करके गाते हैं।

भगवान में सर्वज्ञता, वीतरागता आदि जो गुण प्रगट हुए हैं, उसके प्रति लगन लगाकर, परम प्रेम से भक्त उसके गीत गाते हैं। स्वयं को वे रुचिकर हैं और स्वयं में ऐसे गुण प्रगट करना चाहता है; इसलिए उनके गीत गाता है। ये गीत किसी दूसरे के लिए नहीं गाते परन्तु स्वयं में उन गुणों को प्रगट करने की भावना जागृत हुई है, उस भावना का ही स्वयं में घोलन करते हैं; इसलिए श्री उमास्वामी कहते हैं '**वन्दे तद्गुणलब्धये।**'

आचार्य श्री समन्तभद्र[१] कहते हैं – हे देव! मुझे अन्य तो कोई भी व्यसन नहीं है, एकमात्र आपके गुणों की स्तुति करने का व्यसन है, इसके बिना मुझसे रहा नहीं जाता।

हे नाथ! मैंने आपके अचिन्त्य गुणों को पहचाना है; इसलिए मुझे आपके प्रति अपार प्रमोद और बहुमान जागृत हुआ है। गुणों की पहचानसहित भक्ति ही वास्तविक भक्ति है – ऐसी पहचानसहित कहते हैं कि हे जिनेन्द्र! केवलज्ञान प्राप्त कर आपका चैतन्यद्रव्य झलक उठा है, आपकी चैतन्य झलक की तो क्या बात करें! आपके केवलज्ञान प्रकाश की तो अचिन्त्य

१. समन्तभद्र स्वामी ने भगवान की अद्भुत और गम्भीर भावों से भरी हुई कितनी ही स्तुतियों की रचना की है।

महिमा है। यह केवलज्ञानरूपी प्रकाश होने से तीन लोक में उजियाला होता है और उसके साथ (अच्छे अनाज के साथ जैसे घास भी पकती है, वैसे) साधकदशा में आपके पुण्य और उसके फल में प्राप्त आपके दिव्य शरीर की क्या बात करें! आपका तो आत्मा भी लोकोत्तर है और देह भी लोकोत्तर है।

चक्रवर्ती और इन्द्र जैसे भी भगवान के समक्ष झुकते हैं – हे नाथ! आपके समक्ष हम नहीं झुकें तो जगत् में हमारे झुकने का अन्य कोई स्थान कहाँ है? प्रभो! हमारा हृदय आपके दर्शन से उल्लसित हो जाता है।

अहा, आपकी वीतरागता! जगत् में जिसकी तुलना नहीं है। वीतरागता के प्रति झुका हमारा हृदय कभी राग के प्रति नहीं झुकेगा। हे देव! जगत् में मोक्षार्थी जीवों के झुकने का कोई स्थान है तो एक आप ही हो; इसलिए परमार्थ से आपके जैसा वीतरागी ज्ञानस्वभाव ही मोक्षार्थी के लिए आदरणीय है। जो राग की तरफ झुकता है, वह आपका भक्त नहीं है। बाहर में कुदेवादि को शीश झुकाए, उसकी तो क्या बात करें! परन्तु ऐसा न करे और अन्दर में सूक्ष्म रागरूपी कालिमा से धर्म का लाभ होगा – ऐसा माने तो उसने स्वयं ही राग की तरफ शीश झुकाया है, वह वीतराग का सच्चा भक्त नहीं है। वीतरागी के भक्त का शीश कभी राग के सामने झुकता ही नहीं है।

यहाँ तो इन्द्र कहते हैं कि हे प्रभो! हम आपके समक्ष न झुकें तो जगत् में ऐसा कौन सा स्थान है, जहाँ हमें झुकना चाहिए? पवित्रता में और पुण्य में आप ही सर्वोत्कृष्ट हो...

इसलिए आपके समक्ष ही हम झुकते हैं। जगत् के सामान्य जीव, इन्द्र को पुण्यवन्त मानकर आदर करते हैं और इन्द्र, भगवान जिनेन्द्रदेव का महान भक्ति से आदर करते हैं – ऐसे भगवान की स्तुति मैं भक्तामर स्तोत्र द्वारा करता हूँ।

भगवान के चरणों में भक्ति से झुकनेवाले इन्द्र कहते हैं कि हे नाथ! हमारे सिर के मुकुट-मणि की अपेक्षा, आपके चरणों के नख की विशेष शोभा है; आपके चरणों की भक्ति तो अज्ञान-अन्धकार और पाप को नाश करनेवाली है, यह सामर्थ्य हमारे मुकुट-मणि के तेज में नहीं है; इसलिए हमारा मुकुटसहित मस्तक, आपके चरणों में झुक रहा हैं। हे प्रभो! आपके आत्मा की सर्वज्ञता का दिव्य तेज तो हमें ज्ञानप्रकाश देता है और आपके चरण की भक्ति, गहन पापरूपी अन्धकार का नाश करती है। आपकी भक्ति से पाप का वंश निर्वंश, अर्थात् निर्मूल हो जाता है।

हे आदिनाथ जिनेन्द्र! आप ही इस भरतक्षेत्र में आद्यगुरु हो। आपके अवतार से पहले 18 कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक इस भरतक्षेत्र में मोक्षमार्ग नहीं था, जुगलिया की और भोगभूमि की रचना थी। 18 कोड़ाकोड़ी सागरोपम, (अर्थात् बहुत असंख्यात वर्षों) के अन्तराल में इस भरतक्षेत्र में आप इस चौबीसी में आद्य तीर्थङ्कर हुए हैं और आपने ही मोक्षमार्ग प्रगट किया है, इस कारण आप धर्मयुग के आदि तीर्थङ्कर हो और आप ही आद्यगुरु हो। भवसागर में पड़े हुए जीवों को मोक्षमार्ग बताकर, आपने आलम्बन (सहारा) प्रदान किया है। आपने अनेक जीवों को भवसागर से तिराया है। अहा! आपने धर्मयुग

की शुरुआत की है। हमारी आत्मा में अनादि काल से धर्म का अभाव था; अब, आपके प्रताप से हम में धर्म का प्रारम्भ हुआ है। हम आपके धर्म के साधक होकर, आपके चरण में झुके, वहाँ हमारे मिथ्यात्वादि पापों की अनादि की बेड़ी टूट गयी और भवजल से तिरने का आलम्बन (सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान) प्राप्त हो गया।

देखो तो सही.... यह भगवान की भक्ति! स्वयं के आत्मा को भगवान के मार्ग में मिलाकर भक्ति की है। भगवान ऋषभदेव तीर्थङ्कर, अवसर्पिणी के तीसरे काल में हुए हैं और स्तुतिकार आचार्य पञ्चम काल में हुए हैं, उनके मध्य असंख्य वर्षों का अन्तर है, फिर भी मानो भगवान अभी स्वयं के सामने प्रत्यक्ष साक्षात् विराजमान हों – ऐसी अद्‌भुत स्तुति की है।

हे प्रभो! आपके गुणों की, अर्थात् आपके चरणों की भक्ति, संसार सागर से तिरने के लिए आलम्बनरूप है। आपका वीतराग उपदेश, भवसमुद्र से तारनेवाला और मोक्ष प्रदान करनेवाला है। प्रभो! मैं आपका ही आलम्बन लेता हूँ, अर्थात् आपके द्वारा उपदिष्ट वीतरागमार्ग का ही अवलम्बन लेता हूँ। यही भवसागर से तिरने के लिए सहारा है। अहा! आपकी भक्ति तो मुक्ति देनेवाली है। शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के ध्येयपूर्वक वीतरागभाव को भजते-भजते साधक, भव से तिरकर मोक्ष प्राप्त करते हैं; – इस प्रकार हे नाथ! भव से तिरने के लिए आप आलम्बनरूप हो।

देखो, राग के लिए आप आलम्बनरूप हो – ऐसा नहीं

कहा, परन्तु वीतरागरूप धर्म के लिए आप ही आलम्बनरूप हो – ऐसा कहा है क्योंकि राग हो और पुण्य का बन्धन हो, इस पर भगवान के भक्त का लक्ष्य नहीं है। भगवान के सच्चे भक्त का लक्ष्य तो आत्मा की शुद्धि पर ही होता है। भगवान ने जैसा किया, वैसा ही करना है। भगवान ने तो वीतरागभाव को सेवन करके राग का परित्याग किया है; अत: उनका भक्त भी यही करना चाहता है। यदि भगवान ने किया, उससे विरुद्ध करे, अर्थात् राग का आदर करे तो भगवान का भक्त भी कैसे कहलाये? इसलिए भगवान के भक्त का उत्तरदायित्व है कि वीतरागभाव को आदरणीय माने और राग के किसी अंश को आदरणीय नहीं माने।

यह भक्तामर स्तोत्र बोलते तो बहुत लोग हैं, परन्तु इसमें वीतरागता के अद्‌भुत कैसे भाव भरे हुए हैं? उन्हें तो कोई विरला ही समझता है। अरे, चैतन्य की महिमा के समक्ष देवों की ऋद्धि भी जहाँ तुच्छ है, वहाँ बाहर की ऋद्धि (पैसा इत्यादि) की भावना से भक्तामर बोलनेवाले को तो सर्वज्ञ भगवान की भक्ति करना भी नहीं आता है। अरे भाई! वीतराग की भक्ति से तू संसार की इच्छा करता है! – यह तेरी कैसी भक्ति है? इस वीतराग की स्तुति में तो मोक्ष के मन्त्र हैं, भवरोग मिटाने के मन्त्र इसमें भरे हुए हैं। भगवान की भक्ति भव-भय भेदनी है।

स्तुतिकार कहते हैं कि **'सम्यक् प्रणम्य'**, अर्थात् सम्यक् प्रकार से प्रणाम करके, मैं यह स्तुति करूँगा; अकेले शब्दों से, अकेले राग से नहीं परन्तु सम्यक् प्रकार से, अर्थात् ज्ञानपूर्वक वीतरागभाव का अंश प्रगट करके, हे जिनेन्द्र! मैं

आपका स्तवन करूँगा। सम्यग्दर्शन ही भगवान का परमार्थ -स्तवन है। '**वस्तुस्तव**', अर्थात् सर्वज्ञदेव के गुणों का जैसा स्वरूप है, वैसा लक्ष्य में लेना, वह सर्वज्ञदेव की स्तुति है। मैं इस स्तोत्र के द्वारा ऐसी सम्यक् स्तुति करूँगा।

हे ऋषभ जिनेन्द्र! युग की शुरूआत में आप भवसमुद्र में डूबते जीवों को आलम्बनरूप हुए हैं, आपने मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करके असंख्य जीवों को तिराया है। युग की शुरूआत में कहने से, धर्मयुग की शुरूआत में अथवा कर्मभूमि की शुरूआत में समझना। ऋषभदेव भगवान कोई चौथे काल में नहीं हुए हैं, वे तो तीसरे काल के अन्त में हुए हैं और मोक्ष भी तीसरे काल में प्राप्त किया है। उससे पहले इस भरतभूमि में असंख्य वर्षों से भोगभूमि की रचना थी; इसलिए मुनिपना या केवलज्ञान नहीं था; कल्पवृक्ष के फल से जीवन निर्वाह होता था; फिर कालक्रम से भोगभूमि का काल पूरा हुआ, कल्पवृक्ष के फल भी बन्द होने लगे और लोगों को कृषि आदि कार्यों से जीवन निर्वाह करने की आवश्यकता होने लगी। युग परिवर्तन के ऐसे काल के आरम्भ में भगवान ऋषभदेव हुए और उन्होंने जीवों का मार्गदर्शन किया। उन्होंने ही मोक्ष का मार्ग भी दिखाया है। तब से ही असंख्य वर्षों के पश्चात् इस भरतक्षेत्र में मुनिदशा, केवलज्ञान और मोक्ष का प्रारम्भ हो गया।

भगवान ऋषभदेव, मुनि होने के पहले एक बार अयोध्या के राजदरबार में विराजमान थे। इन्द्र, देव-देवियों के नृत्यसहित भक्ति कर रहे थे, इतने में नीलाञ्जना नाम की एक अप्सरा

की नृत्य करते-करते ही आयु पूरी हो गयी और अचानक उसकी देह का विलय हो गया। संसार की ऐसी क्षणभङ्गुरता को देखते ही भगवान, संसार से वैराग्य को प्राप्त हुए और स्वयं दीक्षित होकर केवलज्ञान साध्य किया, फिर समवसरण में उनकी दिव्यध्वनि से धर्म की 'आदि', अर्थात् प्रारम्भ हुआ, अनेक जीवों ने धर्म प्राप्त किया और मोक्षगति भी शुरू हो गयी।

ऋषभदेव के अवतार से पहले तो इस भरतक्षेत्र में असंख्य वर्षों तक जुगलिया जीव ही थे; वे यहाँ से मरकर एक देवगति में ही जाते थे परन्तु जब तीर्थङ्कर भगवान की दिव्यध्वनि का दिव्यबोध प्रारम्भ हुआ, तब से धर्म की प्राप्ति कर जीव, मोक्ष में जाना भी शुरू हो गये और तभी धर्म का विरोध करनेवाले जीव, नरक में भी जाने लगे। इस प्रकार मोक्षगति और नरकगति दोनों खुल गयी परन्तु भगवान तो धर्म के ही 'आदिनाथ' हैं, पाप के नहीं; भगवान का उपदेश तो भव से तिरने का ही निमित्त है, पाप का निमित्त नहीं; इसलिए भक्त कहते हैं कि हे भगवान! जैसे मुडेर पर चढ़नेवाले के लिए डोरी का सहारा है, वैसे ही मोक्षमहल की श्रेणी में चढ़ने के लिए आपके चरणों की भक्ति का सहारा है। आपकी वीतरागता और सर्वज्ञता का बहुमान हमें भवसागर में डूबने नहीं देता। आपके चरणों का सहारा लेनेवाले भव्यजीव, परभव में डूबने से बचकर मोक्ष को साधते हैं। आपने ही मोक्षमार्ग बतलाया है, इसलिए आप ही मोक्षमार्ग के नेता हो। आप ही हमें मोक्षमार्ग बतानेवाले हो।

देखो तो सही! कैसे सुन्दर भावों से स्तुति करते हैं!!

प्रभो! मैं आपकी स्तुति करता हूँ। आपकी स्तुति कौन नहीं करेगा? अत्यन्त प्रवीण ऐसे सुरलोकनाथ भी तीन लोक के चित्त को हरनेवाले ऐसे उदार स्तोत्र से आपकी भक्ति की मूसलाधार वर्षा करते हैं। जब तीर्थङ्कर भगवान का जन्म होता है, तब इन्द्र आकर भक्ति से उनको सुमेरुपर्वत पर ले जाते हैं और दैवीय ठाठ-बाट से उनका जन्माभिषेक करते हैं; आनन्दकारी ताण्डव नृत्य करके 1008 गुणवाचक मङ्गल नामों से ऐसी अलौकिक स्तुति करते हैं कि लोग स्तब्ध रह जाते हैं। जिनेन्द्रदेव की इस अचिन्त्य महिमा को देखकर बहुत से जीव समकित प्राप्त कर लेते हैं।

भगवान तो अभी एक दिवस के बालक हैं, परन्तु असंख्य देवों के स्वामी इन्द्र स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे प्रभो! आप तो तीन लोक के नाथ हो.... आप तारणहार हो ..... आप इस अवतार में मोक्ष को प्राप्त करेंगे और जगत् के बहुत जीवों को मोक्ष प्राप्त करवायेंगे। प्रभो! अभी केवलज्ञान होने से पहले आपके अवतार की (द्रव्य-तीर्थङ्कर की) ऐसी महिमा है तो जब केवलज्ञान प्रगट करके साक्षात् परमात्मा (भाव-तीर्थङ्कर) होंगे, उसकी महिमा की तो क्या बात!

लौकिकमत में अज्ञानियों के द्वारा माने हुए जगदीश (भगवान) तो स्वयं फिर से संसार में अवतार धारण करते हैं और जीवों को संसार में भेजते हैं परन्तु वे वास्तविक भगवान नहीं है। जो जीवों को संसार में भ्रमण कराये और स्वयं जन्म-मरण करे, उन्हें भगवान क्यों कहना? वास्तविक जगदीश तो

आप हो। आप मुक्त होने के बाद फिर कभी संसार में अवतार धारण नहीं करते; इतना ही नहीं, अपितु आपके निमित्त से अनेक जीव, धर्म प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करते हैं; इस प्रकार आपका अवतार, धर्मोपदेश द्वारा संसार में से जीवों को छुड़ाकर मोक्ष में ले जाता है; इस कारण मोक्ष के अभिलाषी जीव आपकी स्तुति करते हैं और आपके ही मार्ग का आदर करते हैं।

अहा! जगत् में जितने उत्तम जीव हैं, वे सब आपकी स्तुति करते हैं। गणधर, चक्रवर्ती, वासुदेव-बलदेव इत्यादि सब आपकी स्तुति करते हैं; अन्य किसी की नहीं। हे जिनेन्द्र! बारह अङ्ग को जाननेवाले द्वादशांग के पाठी महाबुद्धिमान भी आपका ही स्तवन करते हैं। कोई मूर्ख जीव भगवान को न पहिचाने तो उसकी क्या गणना? जगत् में जितने बुद्धिमान उत्तम पुरुष हैं, वे सब महान भक्ति से जिनचरण की सेवा करते हैं।

कोई भगवान की भक्ति-पूजा का निषेध करता हो तो उससे कहते हैं अरे भाई! बारह अङ्ग के ज्ञाता और देवों के स्वामी भी भगवान की भक्ति-पूजन करते हैं, उनकी अगाधबुद्धि के सामने तेरी क्या गिनती है? इन्द्र जैसे भी भगवान के समक्ष भक्ति करते हुए, बालक की भाँति नाच उठते है। धर्म के प्रेमी को इस जाति का प्रमोद उल्लसित हुए बिना नहीं रहता है। देखो न! बड़े-बड़े ज्ञानियों और मुनियों का हृदय, भगवान की भक्ति में कैसा उल्लसित होता है।

प्रश्न : भगवान तो परद्रव्य हैं, क्या समकिती, पर की स्तुति करता है?

उत्तर : भाई! तूने वीतराग परमात्मा के गुणों की महिमा

को जाना ही नहीं है; इसलिए तुझे ऐसे प्रश्न उठते हैं। सर्वज्ञ परमात्मा के प्रति स्तुति का जैसा भाव ज्ञानी को उल्लसित होता है, वैसा अज्ञानी को उल्लसित ही नहीं होता। भले ही भगवान हैं तो परद्रव्य, परन्तु स्वयं को इष्ट, अर्थात् साध्य – ऐसी वीतरागता और सर्वज्ञता, जब भगवान में दिखती है, तब गुण के प्रति बहुमान से धर्मी का हृदय उल्लसित हो जाता है। जगत् में रागी जीव, स्त्री की प्रशंसा करते हैं तो क्या स्त्री के लिए करते हैं? – नहीं, स्वयं को उसका राग है; अतः उस राग / पाप का पोषण करने के लिए करते हैं। जिसे वीतरागता का प्रेम है, वह वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा को देखते ही भक्ति करता है तो वह कोई भगवान को प्रसन्न करने के लिए नहीं परन्तु स्वयं के भाव में वीतरागता का पोषण करने के लिए है। भक्ति करते समय भले ही शुभराग है, परन्तु उस समय ज्ञान में तो वीतरागस्वभाव का बहुमान निरन्तर चलता है और इसका नाम वीतराग की भक्ति है।

चैतन्य की अचिन्त्य शक्ति विकसित हुई, उसकी महिमा का शब्दों से पार पाया जा सके – ऐसा नहीं है। समवसरण में 1008 नामों से उत्तम स्तुति करके अन्त में इन्द्र कहते हैं – हे नाथ! इन शब्दों से, इन विकल्पों से आपके गुणों की स्तुति पूर्ण नहीं होती; जब यह विकल्प तोड़कर निर्विकल्परूप से स्वरूप में स्थिरता करके वीतराग होऊँगा, तब आपकी स्तुति पूर्ण होगी।

अहा! केवलज्ञान के दिव्यप्रकाशसहित तीर्थङ्करदेव, समवसरण में गणधरों और मुनिवरों की सभा में विराजमान हों

और इन्द्र नम्रतापूर्वक 1008 नामों से भगवान की स्तुति करते हों.... तब तो यह दिव्य स्तुति सुनकर तीन लोक के जीव मुग्ध होकर स्तब्ध हो जाते हैं। देव या मनुष्य तो क्या, तिर्यञ्चों का समूह भी स्तब्ध रह जाता है। अरे, यह स्तुति करनेवाला कौन है! और इन्द्र जैसे जिनकी ऐसी स्तुति करते हैं तो उन भगवान की महिमा कितनी?

— ऐसी सर्वज्ञता की महिमा में गहरे उतर कर कोई-कोई जीव तो सम्यग्दर्शन भी प्राप्त कर लेते हैं।

अहा! सर्वज्ञ की स्तुति किसका मन मुग्ध नहीं करेगी? जिसे सुनने के लिए कान ही नहीं मिले हों – ऐसे बेचारे एकेन्द्रियादि जीवों की क्या गणना? यहाँ तो आत्मा का हित करने के लिए तैयार हुआ है – ऐसे जीव की बात है। वह जीव, भगवान सर्वज्ञदेव की स्तुति का श्रवण करे और उसका चित्त भक्ति से डोल न उठे – ऐसा नहीं होता है।

शास्त्रकार तो अलङ्कार से कहते हैं कि अरे, इस मृत्युलोक का मुमुक्षुरूपी हिरण भी भगवान की स्तुति सुनने के लिए उड़कर चन्द्रलोक में गया तो मनुष्य को भक्ति का उल्लास न आये, यह कैसे हो सकता हैं?

सूर्य-चन्द्रमा के / ज्योतिषी देवों के विमानों में शाश्वत रत्नमयी जिनबिम्ब है। (चक्रवर्ती अपने महल में से उन जिनबिम्बों के दर्शन करता है।) वहाँ के इन्द्र और देव उनकी स्तुति करते हैं। प्रभो! आपकी स्तुति किसे अच्छी नहीं लगती? देवलोक के देव, दिव्य सङ्गीतसहित आपकी जो स्तुति करते

हैं, उसे सुनकर हिरण जैसे तिर्यञ्च जीव भी मुग्ध हो गये और सुनने के लिए चन्द्रलोक तक पहुँच गये तो अन्य की बात क्या करें? चन्द्रमा में हिरण जैसी आकृति दिखती है न! तो कितने ही लोग कहते है कि वह कलङ्क है, परन्तु नहीं; वह कलङ्क नहीं है, वह तो चन्द्रलोक में देव, भगवान की दिव्य स्तुति करते हैं, उस स्तुति का / गुणगान सुनने का लालायित हिरण यहाँ से चन्द्रलोक में गुणगान सुनने के लिए गया है, वह दिखता है।

वाह! भगवान के भक्त घूमते-फिरते सर्वत्र भगवान की महिमा को ही देखते हैं; उनके हृदय में वीतरागता की महिमा बसी हुई है; इसलिए बाहर में भी वही देखते हैं। इस प्रकार इन्द्रों के द्वारा की गयी स्तुति का स्मरण करके यहाँ स्तुतिकार कहते हैं कि हे जिनेन्द्र! बड़े-बड़े इन्द्रों ने जैसे आपकी स्तुति की है, वैसे ही मैं आपकी मनोहर स्तुति करता हूँ।

श्री मानतुङ्ग मुनिराज ने इस स्तुति में सर्वज्ञदेव की भक्ति का प्रवाह बहाया है। यह धर्मतीर्थ का प्रारम्भ करनेवाले आदिनाथ तीर्थङ्कर की स्तुति है। अन्दर में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से सर्वज्ञस्वभावी आत्मा का सेवन करना ही परमार्थ भक्ति है और बाहर में सर्वज्ञ परमात्मा को पहचानकर उनके प्रति प्रमोद -भक्ति, बहुमान का भाव, वह व्यवहारभक्ति है।

यहाँ मानतुङ्ग स्वामी को प्रभु की भक्ति का अति आनन्द आया है। अहो! सर्वज्ञ जैसा मेरा ज्ञानस्वभाव है – ऐसी अनुभूति तो हुई ही है, साथ ही यह भक्ति का भाव आया है। उपसर्ग के समय जेल में बैठे-बैठे यह स्तुति कर रहे हैं। प्रभो! आपके

भक्त को बन्धन कैसा? आपकी भक्ति करने से तो भव के बन्धन भी टूट जाते हैं। प्रभो! आपने अपने भव का तो नाश किया है और हमारे भव का भी नाश करनेवाले हो।

आपका उपदेश, भवसागर में डूबते हुए जीवों को तिरने के लिए अवलम्बनरूप है। आप पापरूपी अन्धकार का नाश करनेवाले हो; पुण्यप्रकाश का उद्योत करनेवाले और धर्म की प्राप्ति कराके भवसमुद्र से तारनेवाले हो। द्वादशाङ्ग के ज्ञाता महाबुद्धिमान, इन्द और गणधर जैसे समर्थ पुरुषों ने भी आपकी स्तुति की है, उसी प्रकार मैं भी अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार आपकी स्तुति करता हूँ। बुद्धि और शक्ति भले कम हो, लेकिन भक्तिभाव तो पूरा है – ऐसा कहकर मानतुङ्गस्वामी ने इस भक्तामर स्तोत्र में भक्तिरस की धारा का प्रवाह बहाया है।

प्रभो! आपने तो मोक्ष का ही उपदेश दिया है। भगवान का सच्चा भक्त, मोक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी वैभव का अभिलाषी नहीं होता। बाह्य वैभव की अभिलाषा से भगवान की सेवा करनेवाले को हम भगवान का सच्चा भक्त नहीं कहते हैं। जो राग का इच्छुक है, वह वीतराग का भक्त कैसे कहलायेगा? इन्द्र स्वयं को प्राप्त इन्द्रपद के दैवीय वैभव को भी भगवान के अचिन्त्य आत्मवैभव के सामने अत्यन्त तुच्छ मानकर, भक्तिभाव से भगवान के चरणकमलों की सेवा करता है और 1008 नामों द्वारा अद्‌भुत स्तुति करता है। आदिपुराण में उसका सरस वर्णन है। उन 1008 नामों में सर्व प्रथम **श्रीमान्;** अर्थात्, अनन्त चतुष्टयरूप, अन्तरङ्गलक्ष्मी तथा अष्ट प्रातिहार्यरूप

बहिरङ्ग लक्ष्मीसहित तथा स्वयंभू, विभू इत्यादि और अन्तिम **धर्मसाम्राज्यनायक** नाम है; इस प्रकार भक्ति में अध्यात्म का रहस्य भी साथ ही समाहित है।

पण्डित बनारसीदासजी ने भी 1008 नामों से भगवान की स्तुति की रचना की है, उसमें प्रथम '**ॐकाररूप**' नाम से शुरूआत की है; तथा **ज्ञानगम्य, अध्यात्मगम्य, बहुगुण-रत्नकरण्ड** – इत्यादि अनेक विशेषणों द्वारा स्तुति की है। तदुपरान्त 1008 नामों से जिनेन्द्रदेव की महापूजन का विशेष मण्डलविधान है, वह मण्डलविधान पूजा सोनगढ़ में अनेकबार हो चुकी है, उसमें भी अत्यधिक भाव हुए हैं।

हे भगवान! ऐसा कौन बुद्धिमान है जो आपकी स्तुति नहीं करेगा? अहो! आपकी सर्वज्ञता को लक्ष्य में लेकर, जिसका चित्त आपकी भक्ति में लीन हुआ है, उसे जगत् का भय नहीं होता। अरे! क्रूर सिंह, हिरण को मारने के लिए छलाँग मारे; हिरण, सिंह के पञ्जों के बीच पड़ा हो, लेकिन आपकी भक्ति की शरण लेते ही उसे सिंह का भय नहीं रहता। हे नाथ! आपकी भक्ति करते हुए, मुझे मेरे सर्वज्ञस्वभाव का भान हुआ और स्वभाव की शरण लेते ही क्रूर कर्म के उदयरूप सिंह या प्रतिकूलता के संयोग की दौड़ से हम दबनेवाले नहीं हैं; कर्मरूपी सिंह के पञ्जे हम पर चलनेवाले नहीं हैं। देखो! बाहर में सिंह की बात की है, अन्दर में यह बात है।

हे नाथ! किसी कर्म में या संयोग में इतनी सामर्थ्य नहीं कि मेरी भक्ति को तोड़ सके। जो हृदय में सर्वज्ञता को स्थापित

करके, आपकी भक्ति करते-करते सर्वज्ञपद की साधना के लिए निकला है, वहाँ आपके भक्त को शुभ का भी ऐसा रस / अनुभाग हो जाता है कि पाप का पुण्यरूप संक्रमण हो जाता है; इसलिए सिंह इत्यादि की कोई प्रतिकूलता उसे बाधक नहीं होती। यह बात इस स्तोत्र में आगे बतायेंगे।

हे प्रभो! मुझे आपकी सर्वज्ञता का परमप्रेम है, इसलिए आपकी स्तुति करता हूँ, उसमें मुझे जगत् के बन्धन रुकावट नहीं बनेंगे। सर्वज्ञस्वभाव के सन्मुख होकर आपकी भक्ति करते-करते मैं आपके जैसा बन जाऊँगा।

इस प्रकार प्रारम्भिक दो श्लोकों में स्तुति के लिए भूमिका बनाकर, अब तीसरे श्लोक में स्तुतिकार स्वयं को बालकवत् वर्णन करते हुए स्तुति करते हैं। ●●

मिथ्याभ्रान्ति का नाश

यद्यपि यहाँ भगवान की स्तुति करते हुए किसी भी प्रकार के वरदान की आकाँक्षा नहीं की गयी है, तथापि बिना आकाँक्षा के ही बालक का विष उतर जाता है। इसी तरह आत्मा के अन्तर ज्ञान एवं ध्यान के फलस्वरूप बिना याचना के ही मिथ्याभ्रान्ति एवं राग-द्वेष का अभाव, सहज स्वभाव की धुन में हो जाता है।

- विषापहार प्रवचन, पृष्ठ-6

काव्य : 3

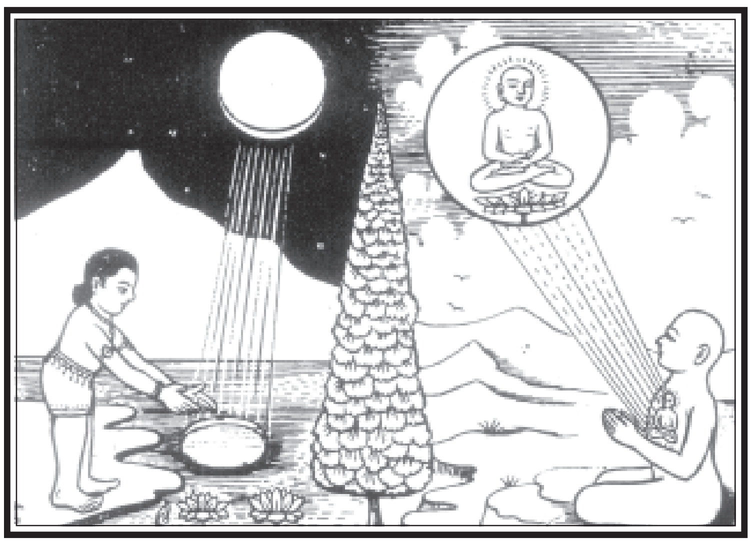

बुद्धया विनापि-विबुधा र्चित पाद-पीठ!
स्तोतुं समुद्यत-मतिर्विग तत्रपोऽहम्।
बालं विहाय जल-संस्थितमिन्दुबिम्ब-
मन्य कः इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम्॥ ३॥

स्तुति को तैयार हुआ हूँ, मैं निर्बुद्धि छोड़ के लाज।
विज्ञजनों से अर्चित हे प्रभु!, मन्दबुद्धि की रखना लाज।
जल में पड़े चन्द्र-मण्डल को, बालक बिना कौन मतिमान।
सहसा उसे पकड़नेवाली, प्रबलेच्छा करना गतिमान॥ ३॥

काव्य - 3 पर प्रवचन

प्रभो! कहाँ आपका केवलज्ञान और कहाँ मेरी अल्प बुद्धि! आपके समक्ष तो मैं बालक हूँ। ऐसा होने पर भी आपके गुणों के प्रति परमप्रेम के कारण मैं आपकी स्तुति करने के लिए उद्यमवन्त हुआ हूँ – ऐसा भाव इस तीसरे श्लोक में कहते हैं —

इन्द्रादि विबुधजनों द्वारा जिनका सिंहासन पूजनीय है – ऐसे हे जिनेन्द्र! मुझमें बुद्धि न होने पर भी, मैं लज्जा छोड़कर आपकी स्तुति करने के लिए समुद्यत हुआ हूँ। पानी में दिखनेवाले चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को प्राप्त करने की इच्छा, बालक के अतिरिक्त अन्य कौन कर सकता है?

प्रभो! आप तो जगत् में सर्वोत्कृष्ट महान हो और मेरी बुद्धि अत्यन्त अल्प है, तो भी हे देव! मैं मेरी शक्ति की अल्पता का विचार नहीं करता; मैं तो आपके गुणों का विचार करता हूँ। आपके अपार गुणों का विचार करते हुए मेरे अन्तरङ्ग में से सहज ही स्तुति का झरना स्फुरायमान होता है; इसलिए आपके गुणों की स्तुति करने में मुझे शर्म नहीं आती है।

हे नाथ! मेरी बुद्धि भले ही अल्प हो परन्तु सम्यक् है और आपके गुणगान में ही लगी हुई है। भले ही शक्ति कम और ज्ञान अल्प है, परन्तु प्रेम तो आपकी सर्वज्ञता का और वीतरागता का जागृत हुआ है न! इसलिए उसे प्राप्त करने के लिए मैं भक्ति द्वारा उद्यमी हुआ हूँ। प्रभो! आप जीवन में अध्यात्म की उत्कृष्ट साधना करके परमात्मा हुए हैं और जगत् को आत्मसाधना का मार्ग बताया है; हम भी उस मार्ग का

अनुसरण करते हैं। इस प्रकार भगवान के द्वारा बताये हुए मार्ग पर चलना ही भगवान की सम्यक् भक्ति है।

जिनदेव के महान स्तुतिकार श्री समन्तभद्रस्वामी कहते हैं – हे देव! आप ऐसे अचिन्त्य हो कि सम्यग्दृष्टि ही आपको भज सकता है; मिथ्यात्वी जीव आपका भजन नहीं कर सकते, पहिचान नहीं कर सकते।

जैसे, जगमगाते चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को निर्मल जल में देखकर, बालक अपना हाथ लम्बा करके चन्द्रमा को पकड़ने की चेष्टा करता है, परन्तु कहाँ ऊँचे आकाश में स्थित चन्द्रमा और कहाँ बालक का हाथ! उसी प्रकार हे प्रभो! केवलज्ञानरूपी चन्द्रमा से जगमगाते आपको देखकर, मैं उसे लेने के लिए अपने हाथ (श्रद्धा-ज्ञान) को लम्बा करता हूँ, अर्थात् आपकी स्तुति करने के लिए जागृत हुआ हूँ। यद्यपि आपके सामने मैं बालक के समान हूँ.... कहाँ आपकी सर्वज्ञता और कहाँ मेरी अल्पज्ञता! फिर भी हे नाथ! मेरे हृदय सरोवर की निर्मलता में, मेरे स्वच्छ मति-श्रुतज्ञान में आपकी सर्वज्ञता का प्रतिबिम्ब उत्कीर्ण हो गया है; इसलिए उसकी प्राप्ति के लिए मैं आपकी स्तुति करता हूँ।

जैसे, आकाश में से चन्द्रमा लेना बालक को अशक्य नहीं लगता; वैसे ही हे देव! हम साधक, अर्थात् बालक जैसे होने पर भी, आपके जैसा परमात्मपद प्राप्त करने का सङ्कल्प करते हैं, उसमें हमें कुछ भी अशक्य नहीं लगता अथवा लोक-लाज आड़े नहीं आती। हम तो लज्जा छोड़कर आपकी स्तुति करते

–करते परमात्मपद की साधना के लिए अग्रसर हुए हैं।

यहाँ बालकपना दोष के अर्थ में नहीं लेना, अपितु इष्ट वस्तु को प्राप्त करने की उत्कण्ठा के अर्थ में लेना है। जैसे, बालक लज्जा छोड़कर चाहे किसी भी महान वस्तु को प्राप्त करने की चेष्टा करता है; वैसे ही हे देव! मैं भी आपकी स्तुति से महान परमात्मपद प्राप्त करने की चेष्टा करता हूँ। जैसे, बालक अपने छोटे हाथ को लम्बा करके बड़े समुद्र का माप बतलाता है कि 'इतना बड़ा समुद्र' – वैसे ही मैं अपने अल्प मति –श्रुतज्ञान का विस्तार करके आपके अनन्त गुणोंरूपी समुद्र की स्तुति करता हूँ।

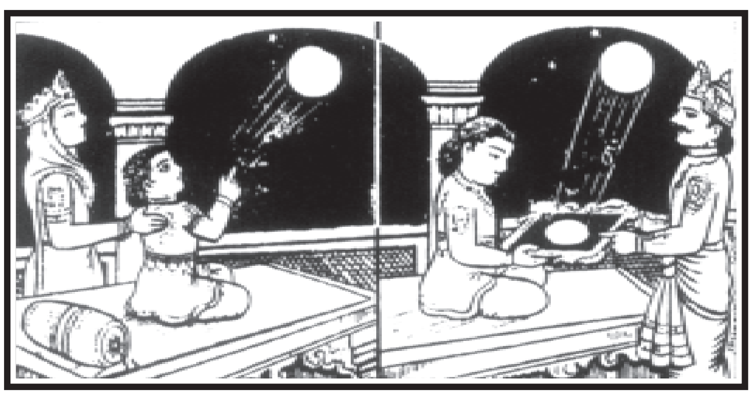

इस सन्दर्भ में बाल–महात्मा रामचन्द्रजी की बात प्रसिद्ध है। चन्द्रमा को देखकर राम कहते हैं – हे माँ! मुझे चन्द्रमा बहुत प्रिय है.... चन्द्रमा को देखकर बालक रामचन्द्रजी उसे हाथ में लेने की इच्छा करते हैं; तब दीवानजी उनके हाथ में दर्पण देकर, उसमें चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब दिखाते हैं; उसे देखकर राम प्रसन्न होते हैं। जैसे, बालक को चन्द्रमा के प्रति प्रेम है;

इसलिए उसके प्रतिबिम्ब को देखकर प्रसन्न होता है। इसी प्रकार यहाँ साधक कहता है —

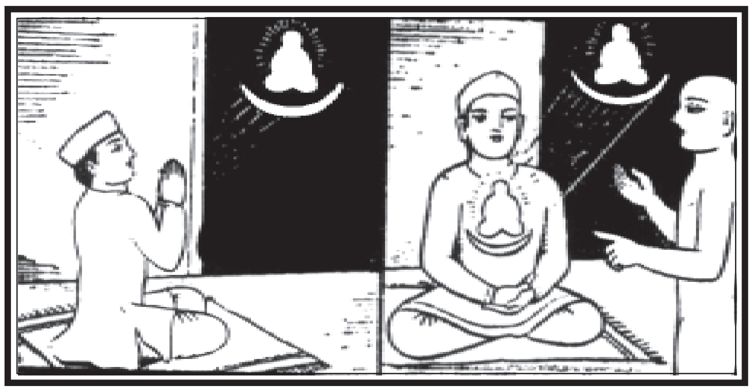

हे नाथ! हमें आपके प्रति (सर्वज्ञता के प्रति) परम प्रेम है; इसलिए आपकी अनुपस्थिति में परोक्षरूप से आपकी स्तुति द्वारा अपने मति-श्रुतज्ञानरूप दर्पण में आपका प्रतिबिम्ब देखकर; अर्थात्, आपके समान ही अपने ज्ञानस्वभाव को अन्तर में देखकर, हम प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। देखो, छोटे-से रामचन्द्रजी का ध्येय महान था, उसी प्रकार छोटे-से साधक के ध्येय में तो पूर्ण परमात्मपद है।

हे सर्वज्ञनाथ! आप तो पूज्य हो ही, आपके चरण-कमल जहाँ पड़े – ऐसा 'पादपीठ' (सिंहासन) भी देवों के द्वारा पूज्य है। जहाँ-जहाँ तीर्थङ्करों के, सन्तों के चरण पड़ते हैं, वह 'तीर्थ' है। अहा! भगवान का और धर्मात्माओं का आत्मा तो पूज्य! उनका शरीर भी पूज्य और जहाँ उनके चरण पड़े, वह पृथ्वी भी पूज्य! ऐसा कौन कहता है? जिसने अन्तर में आत्मा की पूज्यता देखी है, वह बाहर में भी उसका उपचार करता है और

इस बहाने से अन्दर के शुद्धात्मा को लक्ष्य में लेता है।

देखो, धर्मात्मा की दृष्टि! उनके व्यवहार के पीछे भी परमार्थ का जोर होता है। अहो! प्रभु के अन्तर में पूर्ण आनन्द का सागर उल्लसित हो रहा है, उसकी तो क्या बात! बाहर में उनके शरीर और सिंहासन में भी उनका अचिन्त्य प्रभाव दिखायी दे रहा है। विबुधजनों द्वारा वह भी पूज्यनीय हैं। भगवन्तों के चरणों से स्पर्श हुई भूमि की (सम्मेदशिखर-गिरनार-शत्रुञ्जय इत्यादि की) यात्रा करने मुनिराज भी जाते हैं और क्षेत्र के साथ भाव की सन्धि करके, भगवन्तों के गुणों का स्मरण करते हैं। वास्तव में तो गुण, स्तुति करने योग्य है; क्षेत्र आदि तो उसमें निमित्त हैं।

यहाँ यद्यपि युग के आदि पुरुष भगवान ऋषभदेव को सम्बोधित करके स्तुति की गयी है तो भी, केवलज्ञान इत्यादि गुणों की अपेक्षा से सभी केवली भगवन्त समान होने से एक सर्वज्ञ भगवान की गुणस्तुति में सभी भगवन्तों की स्तुति समाहित हो जाती है।

भगवान ऋषभदेव धर्मयुग के आदिकर्ता हैं, उन्हें लक्ष्य में लेकर धर्मात्मा अपने आत्मा में साधकभाव की शुरूआत करता है – वह किस प्रकार करता है? इन्द्रियों से पार, राग से पार, अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभाव को अनुभूति में लेकर साधकभाव की शुरूआत करता है, वह परमार्थस्तुति है और उसका फल मुक्ति है।

हे भगवान! आपकी परमार्थभक्ति का फल मोक्ष है;

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परमार्थभक्ति से भव के बन्धन टूट जाते हैं और उसके साथ पुण्य के योग से बाहर के बन्धन भी टूट जाएँ तो इसमें क्या आश्चर्य है? वीतराग सर्वज्ञदेव को वन्दन करनेवाले को तो अपने में वीतराग-विज्ञान की भावना है; वहाँ विशुद्धता के कारण किसी समय बाहर की अनुकूलता बन जाए और प्रतिकूलता दूर हो जाए – ऐसा होता है परन्तु बाह्य सामग्री-धन आदि प्राप्त करने की इच्छा तो कषाय है।

प्रश्न : कई बार जिनस्तुति आदि मङ्गल नहीं करनेवाले पापी को भी बाहर में सुख (अनुकूलता) देखने में आता है और पाप का उदय नहीं दिखता तथा कई बार मङ्गल करनेवाले धर्मी को बाहर में सुख नहीं दिखता है और पाप का उदय दिखता है; उसका क्या कारण है? (जैसे, कई बार पापी भी धनवान -निरोगी दिखता है और धर्मी भी निर्धन-रोगी दिखता है।)

उत्तर : भाई! यह पूर्व के पुण्य-पाप के फल अभी दिखायी देते हैं; जीवों के संक्लेश-विशुद्धपरिणाम अनेक प्रकार के हैं। पूर्व में बाँधे हुए अनेक कर्म अभी एक साथ उदय में आते हैं। किसी को पूर्व के बहुत पुण्य का अभी उदय हो तो अभी मङ्गल किये बिना भी वह बाहर से सुखी दिखता है और उसके पाप का उदय नहीं दिखता तथा जिसके पूर्व के किसी पाप का उदय हो, उसे अभी मङ्गल करते हुए भी बाहर में सुख नहीं दिखता, प्रतिकूलता दिखती है। यह किसी वर्तमान भाव का फल नहीं है। हाँ; इतना अवश्य है कि पापभाव से पापी जीव के पूर्व के पुण्यकर्म भी घट जाते हैं तथा धर्मभावनावाले

जीव के पूर्व के पापकर्म घटकर उदय में आते हैं। मोक्षमार्ग -प्रकाशक के मङ्गलाचरण में पण्डित टोडरमलजी ने यह बात दृष्टान्तपूर्वक स्पष्ट की है —

जैसे, किसी मनुष्य को पूर्व का एक करोड़ रुपये का कर्ज हो और अभी वह 99 लाख कमाता हो, फिर भी उसे अभी एक लाख का कर्ज दिखता है, वास्तव में उसने कमाया तो है, गँवाया नहीं है तथा अन्य मनुष्य, जिसके पास पूर्व का कमाया हुआ एक करोड़ रुपये का मूलधन था, उसमें से अभी 99 लाख की हानि हुई तो भी उसके पास एक लाख का मूलधन दिखता है परन्तु वास्तव में उसे हानि हुई है। इसी प्रकार धर्मी के पाप का उदय दिखता है तो भी, उसके पूर्व में अधिक पाप थे, वह कम होकर उदय में आये है और पापी जीव के पुण्य का उदय दिखता है तो भी उसके पूर्व का अधिक पुण्य था, वह घटकर उदय में आया है – ऐसा समझना। वर्तमान पाप के भावों से अनुकूलता नहीं मिलती और धर्मभाव के कारण प्रतिकूलता नहीं मिलती; इसलिए धर्मी को प्रतिकूलता में कोई देवादिक सहायता करे ही – ऐसा कोई नियम नहीं है और अधर्मी को देव आकर दण्ड करे – ऐसा कोई नियम नहीं है; यह सब तो पूर्व के पुण्य-पाप के अनुसार होता है।

इस बात को अधिक स्पष्ट समझने हेतु अन्य दृष्टान्त आता है – दो मित्र थे, एक आस्तिक, दूसरा नास्तिक। एक बार दोनों घूमने गये। घूमते-घूमते रात हो गयी। आस्तिक ने तो एक मन्दिर में जाकर सारी रात धर्मध्यान में और प्रभु के भजन में व्यतीत की, जबकि नास्तिक ने सारी रात वैश्या के घर में

जाकर पापकार्यों में व्यतीत की।

* अब प्रात:काल होते ही जब आस्तिक मनुष्य ने मन्दिर के बाहर पैर रखा तो उसके पैर में एक काँटा चुभ गया।

* दूसरी ओर नास्तिक मनुष्य ने वैश्या के घर से बाहर पैर रखा तो उसे सच्चे मोती की एक माला मिली।

तब उस नास्तिक ने आस्तिक से कहा – देख, तूने सारी रात धर्मकार्य में लगाने पर भी तुझे काँटा लग गया और मुझे यह मोती की माला मिली – ऐसा क्यों हुआ?

आस्तिक ने कहा – हे मित्र! सामने जैनगुरु विराजमान हैं, उनके पास चलो, वे ही इस बात का रहस्य समझायेंगे।

जैनगुरु ने कहा – सुनो! आस्तिक को पूर्व के किसी तीव्र पाप के उदय से आज फाँसी मिलनेवाली थी, परन्तु इसके धर्मध्यान करने से पापकर्म एकदम कम हो गये; इसलिए फाँसी के बदले इसे मात्र एक काँटा ही लगा और इतने मात्र से इसके पूर्व के पापकर्म खिर गये.... तथा नवीन पुण्य भी बँधा और इस नास्तिक के पूर्व का ऐसा विशेष पुण्य था कि आज इसे बहुत बड़ा राज्य मिलता, परन्तु उसने पापकार्य किये, जिससे इसके पूर्व का पुण्य घट गया और महान राज्य के बदले मात्र एक रत्नों की माला मिली। इसका पुण्यकर्म खिर गया और नया पापबन्ध हुआ। अपने-अपने पुण्य-पाप का फल भविष्य में दोनों को प्राप्त होगा। पाप के फल में रत्नमाला नहीं मिली और पुण्य के फल में काँटा नहीं लगा है।

इस प्रकार जीव के विशुद्धपरिणाम से पूर्व के कर्म भी

परिवर्तित हो जाते हैं। उसमें किसी के जिनस्तुति आदि करने से विशेष पुण्योदय के योग से देवादिक की सहायता का प्रसङ्ग बन जाता है, फिर भी जिनस्तुति करनेवाले सभी जीवों को ऐसा होता ही है – यह कोई नियम नहीं है। सच्ची जिनस्तुति करनेवालों को तो स्वयं वीतराग-विज्ञान की भावना होती है और उस भावना से धर्मसाधना में कोई विघ्न नहीं आता। धर्म का फल तो अन्तर में तत्क्षण शान्ति प्रदान करता ही है।

अहा प्रभो! आप केवलज्ञान को प्राप्त और भव-बन्धन से मुक्त हुए हैं; पूर्णानन्द से पूर्ण और दुःखों से मुक्त हैं; अतः आपको हृदय में लेनेवाले हम अल्पज्ञ, भवबन्धन में क्यों रहेंगे? आप मुक्त और आपके भक्त को बन्धन – यह शोभा नहीं देता। देखो, इस प्रकार की स्तुति करते-करते मानतुङ्ग मुनिराज के बन्धन एकदम टूट गये।

हे भाई! तू सर्वज्ञस्वरूप को लक्ष्य में लेकर उसकी उपासना कर! तेरे 148 कर्मबन्धन की बेड़ी क्षणमात्र में टूट जाएगी। अरे, वीतरागभावरूप जिनभक्ति तो अन्दर के मोह और भव के बन्धन को क्षण में छिन्न-भिन्न कर देती है, तब बाहर के ताले टूट जाएँ – इसमें क्या आश्चर्य है? लोग तो बाहर के आश्चर्य में अटक जाते हैं और बाहर की आशा से भक्तामर आदि पढ़ते हैं परन्तु भाई! स्तुति का वास्तविक प्रयोजन तो अन्तर में अपने वीतरागभाव की वृद्धि हो – यह है। तू जिनकी स्तुति करता है, उन्होंने तो सम्पूर्ण राग को छोड़ दिया है; अतः उनकी स्तुति भी रागरहित भाव से ही सुशोभित होती है। भगवान

और भक्त, दोनों के भावों में जितना सुमेल हो, उतनी साधकदशा है और वही परमार्थस्तवन है।

हे प्रभो! तीसरे काल में जो केवलज्ञान को प्राप्त हुए – ऐसे आपकी मैं पञ्चम काल का अल्पज्ञ-साधक स्तुति करता हूँ। आपके केवलज्ञान के समक्ष तो मेरा ज्ञान अनन्तवें भागमात्र / अल्प है; भले ही अल्प, किन्तु सम्यक् है; इसलिए उसके द्वारा लज्जारहित होकर मैं आपकी स्तुति करता हूँ ..... पामरता का भान रखकर प्रभुता की उपासना करता हूँ। हे नाथ! मुझमें केवलज्ञान नहीं है, परन्तु आपके केवलज्ञान को तो नजरों से निहारता हूँ और उसकी भावना भाता हूँ; इसलिए आपकी स्तुति किये बिना मुझसे रहा नहीं जाता।

जिसे सर्वज्ञ स्वभाव का भान तो हुआ है परन्तु अभी सर्वज्ञता प्रगट नहीं हुई, उस साधक को गुणों के प्रति प्रमोदरूप – ऐसा भक्तिभाव आता है। यह ज्ञानस्वभाव की उपासनापूर्वक स्तुति है। जिनकी स्तुति करते हैं, उनके जैसा वीतरागी अंश स्वयं में प्रगट करके, जवाबदारी के भानसहित की यह भक्ति है। 'हे भगवान! आप ही मुझे तार दोगे' – ऐसे दूसरे के ऊपर डाल देने की, अर्थात्; पराधीनता की यह बात नहीं है।

मैं अपने ज्ञान में से विभाव निकाल देता हूँ और सिद्धों को स्थापित करता हूँ। चन्द्रमा की तरह सिद्धप्रभु तो नीचे नहीं आयेंगे, परन्तु मेरे स्वच्छ ज्ञानदर्पण में उनका प्रतिबिम्ब देखकर; अर्थात्, उनके समान शुद्धात्मा को अनुभव में लेकर मैं स्वयं सिद्ध होऊँगा और ऊपर जाऊँगा। ऐसे भाव से साधक जीव, सर्वज्ञ की स्तुति करते हैं। ●●

काव्य : 4

वक्तुं गुणान्गुण समुद्र! शशाङ्ककान्तान्,
कस्ते क्षमः सुर-गुरु प्रतिमोऽपि बुद्धया।
कल्पान्तकाल-पवनोद्धत-नक्र चक्रं,
को वा तरीतुं अलं अंबुनिधिं भुजाभ्याम्॥ ४॥

हे जिन! चन्द्रकान्त से बढ़कर, तब गुण विपुल अमल अति श्वेत।
कह न सकें नर हे गुण-सागर, सुर-गुरु के सम बुद्धि समेत॥
मक्र-नक्र-चक्रादि जन्तु युत, प्रलय पवन से बढ़ा अपार।
कौन भुजाओं से समुद्र के, हो सकता है परले पार॥ ४॥

काव्य - 4 पर प्रवचन

हे देव! मैं आपकी स्तुति करने के लिए उद्यमवन्त हुआ हूँ, परन्तु समुद्र के समान आपके अनन्त गुणों का पार, मैं अल्पज्ञ किस प्रकार पाऊँगा?

हे चन्द्रमा के समान उज्ज्वल कान्तिवान देव! आप तो गुण के समुद्र हो, अनन्त गुणों का समुद्र आपके आत्मा में उछल रहा है; उन गुणों का वर्णन करने के लिए बृहस्पति जैसा बुद्धिमान भी कहाँ समर्थ है?

अहा! आपके अचिन्त्य गुण! वाणी का विलास वहाँ पहुँचने में असमर्थ है और विकल्प में वे आते नहीं हैं। वचन –विकल्पों से पार, स्वानुभव द्वारा ही उनका पार पाया जा सकता है। जैसे, प्रलयकाल में (पञ्चम काल के अन्त में) कल्पान्त की इतनी उग्र पवन प्रवाहित होगी कि सागर की बड़ी-बड़ी लहरों में मगर-मच्छ के समूह भी उछल पड़ेंगे, ऐसे उछलते हुए सागर को दोनों हाथ से पार करने में कौन समर्थ है? इसी प्रकार इस पञ्चम काल में श्रद्धा-ज्ञानरूपी दोनों हाथों द्वारा मैं भवसागर से तिरने का साहस करता हूँ। आपकी भक्ति द्वारा मैं भवसागर से अवश्य तिर जाऊँगा... विकल्पों से पार होकर स्वानुभूति से मैं अनन्त गुणों का अनुभव करूँगा। इस प्रकार धर्मी जीव, आनन्द के समुद्र को अपने अन्तर में उल्लसित होता हुआ देखता है।

हे प्रभो! जो राग से भिन्न चैतन्यभाव का अनुभव नहीं करते – ऐसे अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव वास्तव में आपको नमन

नहीं कर सकते हैं, आपकी उपासना नहीं कर सकते हैं, वे आपके अतीन्द्रिय स्वरूप को पहिचानते ही नहीं हैं। सम्यग्दृष्टि जीव ही राग से भिन्न चैतन्यभाव के अनुभव द्वारा आपको वास्तव में पहचान कर नमन करते हैं, उपासना करते हैं।

प्रश्न : देव-गुरु की व्यवहारश्रद्धा करके अज्ञानी जीव, अनन्त बार ऊँचे स्वर्ग में, नौवें ग्रैवेयक तक गया, फिर भी 'वह भगवान को नमन नहीं करता' – ऐसा क्यों कहा?

उत्तर : हे भाई! जो राग में अटका है, उसने वीतराग को नमन किया कैसे कहा जाएगा? राग से भिन्न पड़ने पर वीतराग को सच्चा नमस्कार होता है। वीतराग देव की उपासना, वीतरागभाव से होती है, राग से नहीं; साथ में राग भले ही हो परन्तु राग, वह कोई उपासना नहीं है, वह मोक्षमार्ग नहीं है; जितनी वीतरागता हुई, उतनी सर्वज्ञ की उपासना और उतना ही मोक्षमार्ग है और यह तो भेदज्ञानी जीवों को ही होता है। जिसे भेदज्ञान नहीं है, वह भगवान को नमस्कार नहीं करता, अपितु राग को नमन करता है।

अरे भाई! तूने आत्मा को तो नहीं पहिचाना और सर्वज्ञ भगवान के सच्चे स्वरूप को भी कभी नहीं पहिचाना। भगवान की भक्ति के नाम पर भी तूने अज्ञानपूर्वक राग का ही सेवन किया है। राग को नमन करनेवाला, भगवान को नमस्कार नहीं करता और जो भगवान को नमस्कार करता है, वह राग को नमन नहीं करता।

स्वराज प्राप्त करने हेतु ऐसा बोलते थे —

'नहि नमेगा... नहि नमेगा, निशान भूमि भारत का'

इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि —

'नहि नमेगा, नहि नमेगा, धर्मी राग को नहीं नमेगा।'

अर्थात् जो सर्वज्ञपद का साधक हुआ है, वह अब तुच्छ राग को नमन / आदर नहीं करेगा।

देखो तो सही! सर्वज्ञ की अलौकिक स्तुति करते जाते हैं और साथ-साथ नम्रता भी प्रगट करते जाते हैं। हे देव! आपके गुण तो सागर जितने और मेरी बुद्धि अल्प! उपशमरस से उछलते आपके केवलज्ञानादि अनन्त गुणरूपी समुद्र का वर्णन कौन कर सकता है? अरे, बृहस्पति जैसे; अर्थात्, देवों में गुरुसमान, बारह अङ्ग के धारी भी असंख्य वर्षों तक हजारों जिह्वा से आपका गुणगान करें तो भी आपके गुणों का पूरा वर्णन नहीं कर सकते। इसका पार तो अनुभव से ही पाया जा सकता है; वचन से, विकल्पों से पार नहीं पाया जा सकता – ऐसा लक्ष्य में रखकर परमप्रीति के कारण मैं आपके गुणों का स्तवन करता हूँ।

भगवान के गुणों की स्तुति, भगवान को प्रसन्न करने के लिए नहीं, परन्तु अपने भाव में गुणों के प्रमोद द्वारा उनकी भावना करके विशुद्धि के लिए है और उस विशुद्धि से संवर -निर्जरा होते हैं; इसलिए वास्तव में स्तुति के बहाने भेदज्ञान की भावना से ही भव का अभाव होता है।

* यही बात श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने प्रवचनसार, गाथा 80 में समझायी है —

जो जानता अरहन्त को, द्रव्यत्व-गुण-पर्याय से।
वह जानता है आत्मा, हो मोहक्षय तब नियम से॥ 80॥

* समयसार में भी परमार्थ स्तुति के वर्णन में यही बात बतायी है —

कर इन्द्रियजय ज्ञान स्वभाव रु, अधिक जाने आत्म को।
निश्चयविषैं स्थित साधुजन, भाषैं जितेन्द्रिय उन्हीं को॥ 31॥

* नियमसार में भी वे कहते हैं कि —

विपरीत आग्रह छोड़कर श्री जिन कथित जो तत्त्व हैं,
जोड़े वहाँ निज आत्मा, निजभाव उसका योग है॥ 139॥

* पञ्चास्तिकाय में भी कहते हैं कि —

इसलिए निर्वाण अर्थी, संगबिन ममतारहित।
हो सिद्ध में भक्ति करे, उससे मिले निर्वाण पद॥ 169॥

अतएव करना राग ना, किंचित् कहीं मोक्षार्थियों।
इससे तरे वह भव्य भवसागर, सदा वीतराग हो॥ 172॥

देखो तो सही! जैनशासन में सर्वत्र ज्ञानस्वभाव के अनुभव से वीतरागता करने का उपदेश दिया है।

जैसे, छोटा बालक 'इतना बड़ा समुद्र' – ऐसे अपने दोनों हाथ फैलाकर सागर का वर्णन करने की चेष्टा करता है; वैसे ही हे देव! अपने श्रद्धा-ज्ञानरूपी दोनों छोटे हाथों का विस्तार करके, मैं आपके गुणरूपी समुद्र की स्तुति करता हूँ; इस प्रकार कहकर मुनिराज ने सर्वज्ञ की स्तुति के अद्‌भुत भावों की घनघोर वर्षा की है। ●●

काव्य : 5

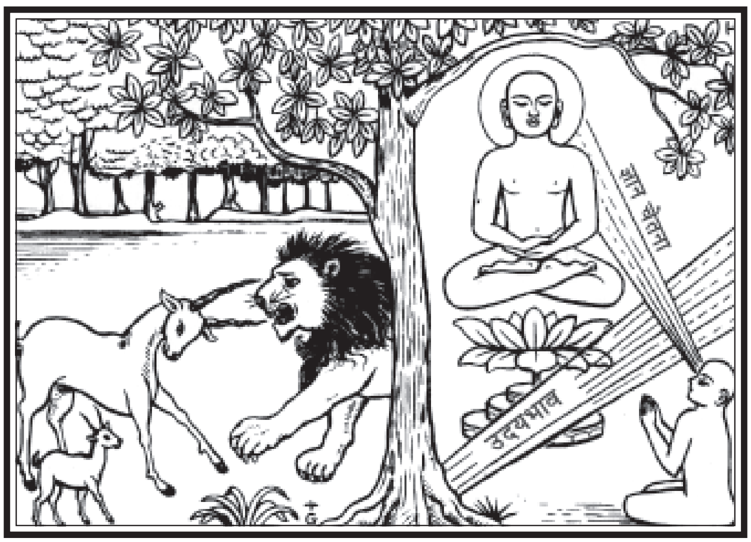

सोऽहं तथापि तव भक्ति-वशान्मुनीश!
कर्तुं स्तवं विगत-शक्ति-रपि प्रवृत्तः।
प्रीत्यात्म-वीर्यमविचार्य मृगे मृगेन्द्रं,
नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम्॥ ५॥

वह मैं हूँ कुछ शक्ति न रखकर, भक्ति प्रेरणा से लाचार।
करता हूँ स्तुति प्रभु तेरी, जिसे न पौर्वापर्य विचार॥
निज शिशु की रक्षार्थ आत्मबल, बिना विचारे क्या न मृगी।
जाती है मृगपि के आगे, प्रेम-रङ्ग में हुई रङ्गी॥ ५॥

काव्य - 5 पर प्रवचन

हे सर्वज्ञ देव! भले मैं अल्प बुद्धि बालक जैसा हूँ तो भी आपके प्रति परमप्रीति के कारण मैं आपकी स्तुति करने के लिए उद्यमी हुआ हूँ।

हे मुनिनाथ! मैं शक्तिहीन हूँ परन्तु भक्तिहीन नहीं। जैसे, हिरणी के बच्चे पर सिंह पञ्जे से झपट्टा मारने आता है, तब अपने बच्चे के प्रति परमप्रीति के कारण, उसकी रक्षा हेतु हिरणी भी अपने बल का विचार किये बिना बलवान सिंह का सामना करती है; उसी प्रकार आपके गुणों की परमप्रीति के कारण मैं भी अपनी शक्ति का विचार किये बिना भक्ति में प्रवृत्त होता हूँ।

देखो! इस भक्ति में आत्मा के गुणों की प्रीति और रक्षा के अतिरिक्त अन्य कोई लौकिक भावना नहीं है। जो लौकिक (पुत्र, पैसा इत्यादि की) आशा से भक्ति करता है, वह तो वास्तव में भगवान का भक्त ही नहीं है। अरे, धर्मात्मा को बाहर की अनेक ऋद्धियाँ सहज में आ मिले तो भी उसे उनकी भावना नहीं होती; भावना तो आत्मगुणों की ही है। हे जीव! यदि तू धर्म के सेवन से बाहर की ऋद्धि चाहता हो तो तू मूढ़मति है। तू भोगहेतु राग का सेवन करता है, मोक्षहेतु धर्म का नहीं।

अहा! परमात्मा के गुणों के प्रति साधक का हृदय भक्ति से उछल जाता है। नियमसार की टीका में मुनिराज कहते हैं – 'भवभय को भेदनेवाले ऐसे भगवान के प्रति क्या तुझे भक्ति नहीं है? – तब तो तू भवसागर के बीच मगर-मच्छ के मुख

में पड़ा है।' इस भक्ति में अकेले राग की बात नहीं है, राग से भिन्न गुण की पहचानसहित की बात है, जो कि मोक्ष का कारण होती है।

जो मुक्तिगत हैं उन पुरुष की भक्ति जो गुणभेद से,
करता, वही व्यवहार से निर्वाणभक्ति वेद रे॥

(- नियमसार, गाथा 135)

'अरे रे! यह पञ्चम काल है, मैं अल्पज्ञ हूँ, शक्तिहीन हूँ' – ऐसा बहाना किये बिना, मुमुक्षु जीव, आत्मा के गुणस्वभाव की परमप्रीति से मोह के विरुद्ध होकर मोक्षमार्ग को साधता है। 'इस काल में मोक्ष नहीं होता' – ऐसा कहकर निरुत्साहित होकर बैठा नहीं रहता।

जैसे, हिरणी के बच्चे को पकड़ने सिंह आये, तब उसे बचाने के लिए हिरणी, सिंह के सामने भी सींग मारती है, निर्बल होने पर भी उसे पुत्र का प्रेम उछलता है; वैसे ही मुमुक्षु का आत्मवीर्य, पञ्चम काल में भी उदयभाव के विरुद्ध अपने स्वभाव को साधने के लिए उल्लसित होता है, उसमें निमित्तरूप से सर्वज्ञपरमात्मा के प्रति भक्ति उल्लसित होती है।

अहा! धर्मी जीव का सर्वज्ञपरमात्मा के प्रति प्रेम तो देखो! प्रभो! इस विकराल काल में अपने साधकभावरूपी बच्चे की रक्षा के लिए मैं सम्पूर्ण शक्ति से आपकी भक्ति करूँगा। अल्पज्ञ साधक होने पर भी मैं सर्वज्ञपद की ओर दौड़ा आ रहा हूँ; उसमें बीच में अन्य कोई विचार करके मैं अटकूँगा नहीं। परमपद प्राप्त करने के लिए मैंने स्थिरता की है। अभी मैं

शक्तिरहित होने पर भी, सर्वज्ञपद के मनोरथ का सेवन करता हूँ और उसकी स्तुति आदरसहित करते हुए निरन्तर आपके द्वारा बताये गये मार्ग पर अग्रसर होता हूँ। अब, परमपद लेकर ही रहूँगा।

मुमुक्षु को आत्मा के परमपद की प्राप्ति के अतिरिक्त पैसे का, पुत्र का, पुण्य का या स्वर्ग का मनोरथ (इच्छा) नहीं है। राग रहेगा, उससे इन्द्रादि पद मिलेंगे, परन्तु उसकी मनोकामना नहीं है, उनके प्रति प्रेम नहीं है; मनोरथ तो परमपद का ही है। ●●

परिपूर्ण स्वभाव का साक्षात्कार

हे भगवान ! जिस प्रकार छोटे से झरोखे से भी बहुत कुछ देखा जा सकता है, अथवा आँख छोटी होने पर भी बड़े-बड़े हाथियों को देख लेती है; इसी प्रकार मेरा ज्ञान भले ही अल्प है, तथापि उस अल्प ज्ञान द्वारा ही मैं आप जैसे सर्वज्ञ की स्तुति करूँगा।

यद्यपि मेरा ज्ञान अल्प है, मति-श्रुतरूप है; तथापि इसके द्वारा मैं अपने परिपूर्ण स्वभाव को देखूँगा, साक्षात्कार करूँगा। जैसे, छोटे से छिद्र में हाथी दिखता है; उसी प्रकार अल्प ज्ञान में भी अनन्त शक्तिसम्पन्न सम्पूर्ण आत्मा दिखता है, अनुभव में आता है।

- विषापहार प्रवचन, पृष्ठ-12

काव्य : 6

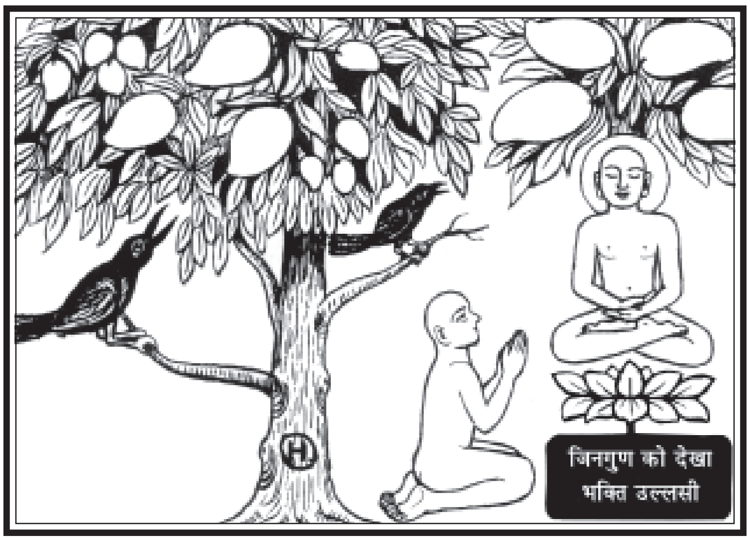

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम,
त्वद्भक्तिरेव मुखरी कुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति,
तच्चाम्र-चारूकलिकानिकरैकहेतुः ॥ ६ ॥

अल्पश्रुत हूँ श्रुतवानों से, हास्य कराने का ही धाम।
करती है बाचाल मुझे प्रभु, भक्ति आपकी आठों याम॥
करती मधुर गान पिक मधु में, जग-जन मन हर अति अभिराम।
उसमें हेतु सरस फल फूलों, के युत हरे-भरे तरु-आम॥ ६ ॥

काव्य - 6 पर प्रवचन

जैसे, चैत्र माह में आम्र के वृक्ष पर फूल देखकर कोयल मधुर आवाज में कुहू-कुहू करती है... अब आम पकेंगे और खाऊँगी – ऐसी प्रसन्नता से कोयल कुहूक उठती है; वैसे ही हे देव! यद्यपि मैं अल्प श्रुतज्ञानवाला हूँ और बुद्धिमान जनों के उपहास के योग्य हूँ, तथापि जहाँ आपके चैतन्यगुणरूपी बसन्त पूर्णरूप से विकसित हुआ देखता हूँ, तब प्रसन्नता से मेरा हृदय भक्ति से गुञ्जायमान हो जाता है... आपके शासन में हमारे अन्तर में ज्ञानरूपी कणिका खिली है और अब मोक्षरूपी मधुर फल कुछ समय में खाऊँगा / प्राप्त करूँगा।

कोयल, मधुर कुहूकार करती है, वह कहीं किसी को सुनाने के लिए नहीं करती, परन्तु आम्र के मोर / पुष्प को देखकर वह अपना प्रमोद / हर्ष व्यक्त करने के लिए कुहूकार करती है; उसी प्रकार हे देव! मेरी अल्पज्ञता देखकर कोई मेरी हँसी उड़ाये, मेरा उपहास करे या मुझे मूर्ख माने, परन्तु आपके सर्वज्ञता इत्यादि गुणोंरूपी बगीचे को खिला देखकर, प्रसन्नतापूर्वक मैं तो आपकी भक्ति का मधुर गुञ्जन करूँगा। सर्वज्ञता के प्रति मेरा भाव उछलता है, वह सर्वज्ञता लिए बिना रुकनेवाला नहीं है।

साधक को अपने शुद्धात्मा के प्रति प्रीति जागृत हुई है; इसलिए पूर्ण शुद्धता को प्राप्त भगवान को देखते ही उसे भक्ति का भाव उछलता है। अहा! किस प्रकार आपकी स्तुति-भक्ति करूँ! किस प्रकार गुणगान की कुहूकार करूँ!!

प्रश्न : भगवान की भक्ति का भाव तो राग है और राग,

वह धर्म नहीं है तो भक्ति की बात क्यों करते हो?

उत्तर : अरे भाई! तूने भक्ति का स्वरूप समझा ही नहीं है। भक्ति में भगवान की पहचान और भगवान के प्रति प्रीति है, वह कहीं राग नहीं है। गुणों की पहचान करके उनके प्रति बहुमान से विशुद्धि होती है, पाप टलता है; पूर्व के पापकर्म भी पुण्यरूप संक्रमित हो जाते हैं। वहाँ जितनी शुद्धता और वीतरागता होती है, उतना धर्म है और यही परमार्थभक्ति है, उसके साथ रहे हुए राग में भक्ति का उपचार है, उससे पुण्य बँधता है परन्तु धर्मी की दृष्टि उस राग पर नहीं होती; सर्वज्ञ जैसे रागरहित ज्ञानस्वभाव पर ही उसकी दृष्टि होती है – ऐसी शुद्धदृष्टिसहित की भक्ति का यह वर्णन है। यहाँ अकेले राग की बात नहीं है।

जिसे आत्मा का प्रेम होता है, उसे भगवान के प्रति भक्ति का भाव उल्लसित हुए बिना नहीं रहता है। 148 कर्मप्रकृति के बन्धन में जकड़ा जीव, पहचानसहित की ऐसी भक्ति द्वारा उस बन्धन को तोड़ देता है – ऐसे अध्यात्मभाव इस भक्ति में भरे हुए हैं।

जैसे, मयूर के ऊँची आवाज में बोलने से सर्प डरकर भाग जाता है, वैसे ही हे देव! आपकी सर्वज्ञता देखकर हमारे ज्ञान में टंकार हुई है कि 'मेरा ऐसा सर्वज्ञस्वभाव' – वहाँ उस सर्वज्ञस्वभाव की टंकार से मिथ्यात्वरूपी सर्प दूर भाग जाते हैं।

स्तुतिकार नम्रतापूर्वक कहते हैं कि हे देव! महान श्रुतधर गणधरादि भी आपकी स्तुति करते हैं, उनके समक्ष मैं कौन

हूँ ? फिर भी आपके गुणों को देखकर स्तुति की कुहूकार किये बिना मुझसे रहा नहीं जाता, क्योंकि आपके शासनरूपी कल्पवृक्ष में हमें सम्यक्त्वादि मीठे फल खाने को मिलते हैं। हमारे लिए तो अभी धर्म की बसन्तऋतु खिली है। विद्वान, अर्थात् मूर्खजन भले ही मेरी हँसी उड़ायें, परन्तु आपके अचिन्त्य गुणों के प्रति प्रीति मुझे बाचाल करके भक्ति कराती है – इसमें फिर लोकलाज भी क्या ? क्या कोयल मीठी कुहूकार करते हुए किसी से शरमाती है ?

अभी हमारे साधकदशारूपी बसन्त खिला है। अहो ! हमारे भगवान का ऐसा दिव्यज्ञान ! ऐसी अद्‌भुत वीतरागता !! और ऐसा अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द !!! इस प्रकार गुण के प्रति प्रमोद से साधकजीव, परमात्मा की भक्ति करते हैं। वाह ! प्रभु के गुणों के सामने देखने से राग तो याद ही नहीं आता, चैतन्य की वीतरागी सुन्दरता ही दिखती है।

चैत्र के महीने में कोयल जो कुहूकार करती है, वह लटकते-झूमते आम के वृक्ष पर लगे फूल का प्रभाव है; इसी प्रकार हमारे जैसे साधक के अन्तर में जो भक्ति उल्लसित होती है, वह हे नाथ ! आपके अचिन्त्य गुणों का प्रताप है। धर्मरूपी आम के पकने के काल में हमसे भक्ति की कुहूकार हो जाती है। कोयल की कुहूकार बहुत मधुर होती है, इसी प्रकार हे देव ! आपके गुणों के प्रति प्रेम की कुहूकार में ज्ञान की मिठास है।

अज्ञानी को परमात्मा की वीतराग भक्ति की ज्ञानरूपी

कुहूकार करना नहीं आता, वह तो अकेले राग की कुहूकार करता है; वह तो कौए की कर्कश आवाज जैसा है। जिस प्रकार कौए की आवाज को 'कुहूकार' नहीं कहते, उसे तो 'कॉव-कॉव...' कहते हैं; उसी प्रकार अज्ञानी, राग को धर्म समझ कर जो भक्ति करता है, वह तो कौए की कॉव... कॉव जैसी है, उसमें ज्ञान की मधुर गुञ्जार नहीं होती है।

ज्ञानी कहते हैं – अहा! इस विकट पञ्चम काल में मुझे आपके शासनरूप कल्पवृक्ष मिला; अब रत्नत्रयरूप आम पकेंगे, यह देखकर भक्ति से मेरा अन्तर्मन उछल जाता है। अभी तो पञ्चम काल है और भगवान ऋषभदेव तो तीसरे काल में हुए हैं, फिर भी मानों वे अभी मेरे सामने साक्षात् विराजमान हों; इस प्रकार भक्ति के बल से मैं उन्हें प्रत्यक्ष करके स्तुति करता हूँ।

मैं अल्पज्ञ हूँ परन्तु मुझे सर्वज्ञ की भक्ति का रङ्ग लग गया है। लोग भले ही मेरा उपहास करें कि अरे! पञ्चम काल में ऐसी परमार्थभक्ति! और पञ्चम काल में आत्मा का अनुभव! परन्तु प्रभो! आपकी भक्ति के बल से हमें वह सुगम है.... हमारे तो अभी धर्मलब्धि का मधुर मौसम है – ऐसी उत्तम भावनापूर्वक यह स्तुति की मधुर टङ्कार है।

जैसे मधुर आम को देखकर कोयल के कण्ठ से मधुरता झरती है, उसी प्रकार हे देव! आपके गुणरूपी मधुर आम को देखते ही हमारे हृदय में से गुणों की स्तुति का मधुर सङ्गीत निकलता है – वही है यह भक्तामर स्तोत्र! ●●

काव्य : 7

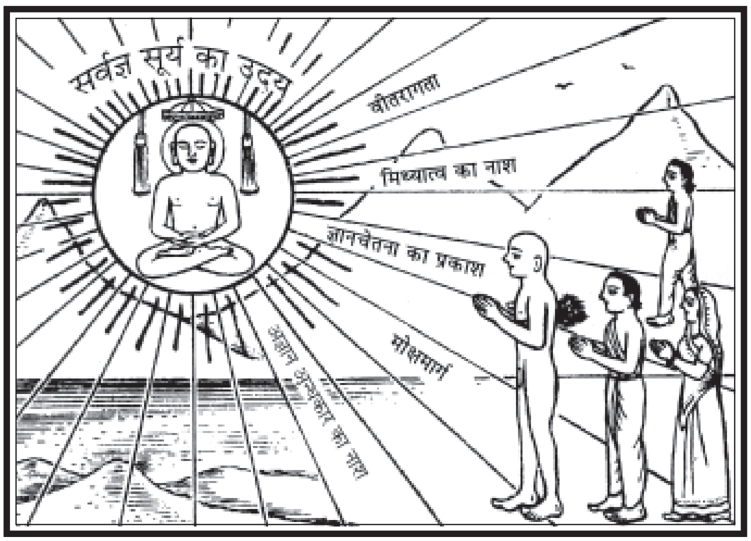

त्वत्संस्तवेन भवसन्तति – सन्निबद्धं,
पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीर – भाजाम्।
आक्रान्त-लोकमलि-नीलमशेष माशु,
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम्॥ ७॥

जिनवर की स्तुति करने से, चिर संचित भविजन के पाप।
पल भर में भग जाते निश्चित, इधर-उधर अपने ही आप॥
सकल लोक में व्याप्त रात्रि का, भ्रमर सरीखा काला ध्वान्त।
प्रातः रवि की उग्र किरण लख, हो जाता क्षण में प्राणान्त॥ ७॥

काव्य - 7 पर प्रवचन

हे प्रभो! आप सर्वज्ञ हो, मुक्त हो; आपका स्वरूप लक्ष्य में लेकर जहाँ हम आपका सम्यक् स्तवन करते हैं, वहाँ अनेक भव से बँधे हुए पाप एक क्षणमात्र में क्षय हो जाते हैं। हमारा अज्ञान और भवबन्धन छूट जाता है। आप सर्वज्ञ हैं तो आपकी सम्यक् स्तुति करनेवाले को अज्ञान कैसे रहेगा? आप मुक्त हैं तो आपकी उपासना करनेवाले को भवबन्धन कैसे रहेगा? जैसे सम्पूर्ण लोक को आच्छादित कर देनेवाला दीर्घ काल का घोर अन्धकार भी, सूर्य-किरण के उदय होने से शीघ्र ही दूर हो जाता है; वैसे ही हे सर्वज्ञ-सूर्य! आपको लक्ष्य में लेने से हमारे सम्यक् मति-श्रुतज्ञान की किरण प्रगट हो जाती है और मिथ्यात्वरूपी अन्धकार का नाश हो जाता है; उसके साथ पूर्व में बँधे हुए दीर्घ काल के पापकर्म भी क्षण में दूर हो जाते हैं।

प्रभो! आप तो त्रिलोक को प्रकाशित करनेवाले परम तेजस्वी केवलज्ञान सूर्य हो और स्तुति द्वारा आपके सम्पर्क से हमारी ज्ञानचेतना भी सम्यक्त्वरूपी तेज से ऐसे चमक उठी है कि उसने घोर मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को क्षणमात्र में नष्ट कर दिया है।

प्रभो! जहाँ आपके केवलज्ञान को अपने हृदय में लेते हैं, वहाँ रागरहित हमारा ज्ञायकस्वभाव लक्ष्य में आता है, उसके लक्ष्य से हमारा परिणमन मोक्ष की ओर होता है और भवबन्धन टूट जाते हैं। अहा! जिसने सर्वज्ञस्वभाव का निर्णय किया, उसे तो मुक्ति का दरवाजा खुल गया है।

बहुत से जीव यह सोचकर उदास हो जाते हैं कि अरे रे! पूर्व में अनन्त काल में बँधे हुए भयंकर पाप किस प्रकार छूटेंगे?

उनसे कहते हैं – अरे भाई! अरिहन्त भगवन्तों को जैसी सर्वज्ञता प्रगट हुई है – ऐसा ही तेरा ज्ञानस्वभाव है। ऐसा एक बार लक्ष्य में लेकर उसकी स्तुति, आदर, गुणगान और भावना कर, तो पूर्व में बँधे हुए सभी पापकर्म एक क्षण में छूट जाएँगे, तेरा मोक्षमार्ग खुल जाएगा।

देखो, अनन्त काल के कर्म तो किसी जीव को होते नहीं, असंख्य वर्षों के होते हैं। चाहे जैसे कर्म बँधे हों, वे असंख्य वर्ष में खिर ही जाते हैं; तदुपरान्त, जैसे जगमगाता सूर्य उदित होता है, वहाँ अन्धकार नहीं रहता; वैसे ही ज्ञानस्वभाव की भावना हो, वहाँ मिथ्यात्वादि पापकर्म नहीं रह सकते। अहा! जिसके हृदय में भगवान विराजमान हैं, उसे भव का भय क्या? और पाप का बन्धन कैसा?

देखो, यह सच्ची जिनभक्ति की महिमा और उसका फल!

भाई! यदि तू भव से भयभीत है तो भव को जीतनेवाले जिनवरों की भक्ति कर। भगवती आराधना में कहते हैं कि मात्र जिनभक्ति, दुर्गति का निवारण करने तथा पुण्य की प्राप्ति और सिद्धिपर्यन्त सुखों की परम्परा देने में समर्थ है। *(गाथा -752)* जिसके अन्तर में पहचानपूर्वक दृढ़ जिनभक्ति है, उसे संसार में भय नहीं होता। *[जस्स दढा जिणभक्ति तस्स णत्थि भयं संसारे] (गाथा - 751)* वह तो अल्प काल में भवबन्धन को तोड़कर मोक्ष की प्राप्ति कर लेगा।

भरत चक्रवर्ती और रामचन्द्रजी जैसे महात्मा भी जिनभक्ति करते थे, उसका अद्भुत वर्णन पुराणों में आता है। जैसे, अमावश्या की सम्पूर्ण रात्रि का / 12 घण्टे का अन्धकार एकत्रित हुआ हो, उसे दूर भगाने में 12 घण्टे नहीं लगते; प्रातःकाल में प्रकाश की एक किरण के आते ही वह क्षणमात्र में दूर भाग जाता है; वैसे ही बहुत समय के; अर्थात्, असंख्यात वर्षों के एकत्रित हुए पापकर्मों को दूर करने में असंख्य वर्ष नहीं लगते; जिनदेव को पहचानकर, उनके धर्म की उपासना करने से सम्यग्ज्ञानरूपी प्रकाश का उदय होते ही अज्ञानरूपी अन्धकार और पापकर्म एक क्षण में विनष्ट हो जाते हैं।

हे देव! आपके गुण में हमारा चित्त लगते ही वह पापरहित विशुद्ध हो जाता है; इसलिए 'मेरा क्या होगा? मैं कर्मों से कब छूटूँगा?' – ऐसी आशंका आपके भक्त को नहीं होती। यहाँ भक्ति में अकेले राग की बात नहीं है, यह तो सर्वज्ञस्वभाव की दृष्टिपूर्वक की भक्ति है। **'मोह मेरा कुछ नहीं, मैं एक ज्ञायकभाव हूँ'** – ऐसे लक्ष्य द्वारा धर्मात्मा, समस्त कर्मों से भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करता है। अहो देव! आपकी भक्ति से जहाँ ऐसा स्वानुभवरूपी सूर्य उदित हुआ, वहाँ अब हमारे अन्तर में अज्ञानरूपी अन्धकार कैसे रहेगा? भवरहित स्वभाव को भूलकर, अज्ञान से अनन्त भव हो गये, परन्तु अब जिनदेव के शासन में ऐसी भवरहित ज्ञानस्वभाव की भावना में आया, वहाँ अनन्त भव का नाश होकर मोक्ष की साधना प्रारम्भ हो गयी है।

इस भक्ति में मात्र 'भक्तामर स्तोत्र' के अकेले शब्द बोल

जाए अथवा सरस राग-रागिनी से गाये, उसकी बात नहीं है; जिनकी यह स्तुति है – जिसने ऐसे सर्वज्ञ भगवान को पहचान कर और उनके समान शुद्धात्मा को लक्ष्य में लेकर भक्ति की है, उसे संसार और मोक्ष की बीच दरार पड़ गयी है, वह मोक्ष का साधक हुआ और भव से छूट गया है।

अहा! सर्वज्ञ-परमात्मा जिसके हृदय में विराजमान हैं, वहाँ अब संसार कैसा? अज्ञानी को कभी ऐसी भक्ति का सच्चा उल्लास नहीं आता। यदि एक बार सर्वज्ञ के प्रति हृदय से उल्लसित हो जाए तो मोक्षमार्ग हाथ में आ जाए और निहाल हो जाए।

हे देव! आपके दिव्यगुणों को देखते ही हमारा आत्मा उल्लसित हो जाता है, हमारी दृष्टि खुल जाती है और अज्ञान दूर हो जाता है —

कोटि बर्ष का स्वप्न भी, जागृत हो शम जाय।
त्यों विभाव अनादि का, ज्ञान होय क्षय पाय॥

यह स्तुतिकार मानतुङ्गस्वामी तो मुनिराज हैं, परन्तु सम्यग्दृष्टि गृहस्थ को तथा सम्यग्दर्शन होने के पहले भी सुपात्र जीव को परमात्मा के प्रति भक्ति का ऐसा भाव आये बिना नहीं रहता। प्रभु के प्रति भक्तिभाव जागृत न हो और विषयों के प्रति प्रेम बढ़ जाए तो वह जीव अपात्र है; उसे स्वच्छन्दी, कुल्टा जैसा कहा है। धर्म का प्रेमी जीव अपने तन-मन-धन और ज्ञान की शक्ति का सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की प्रभावना में प्रयोग करता है।

पहले अज्ञानदशा में कुदेवादि के प्रति जैसा प्रेम था, उसकी अपेक्षा अब ज्ञानदशा में देव-गुरु-धर्म की महिमा की सच्ची पहचान होते ही धर्मी को भक्ति का उल्लास कोई अलग प्रकार का होता है। ऐसा सर्वज्ञ भगवान का भक्त, संसार से विरक्त होकर, ज्ञानस्वभाव के सन्मुख हुआ है। अब, वह अल्प काल में राग और कर्मों को क्षय करके / नष्ट करके मुक्ति को प्राप्त करेगा। ●●

भक्ति की मूसलाधार वर्षा

देखो! इस विषापहार स्तोत्र में ऋषभदेव भगवान की स्तुति चल रही है। सचमुच तो यह भगवान आत्मा की ही स्तुति है। व्यवहारभक्ति के पीछे निश्चयभक्ति परिणमनरूप से होने पर ही भगवान की उस स्तुति या भक्ति को व्यवहार कहा जा सकता है।

जिसे भगवान आत्मा की दैवी शक्तियों के श्रद्धान-ज्ञानरूप परिणमन एवं साथ ही भगवान की भक्ति का विकल्प भी प्रवर्तित है, उसके अन्तरङ्ग शुद्धि की अभिवृद्धि के साथ-साथ लोकोत्तर पुण्य भी बँधता है — ऐसी निश्चयपूर्वक व्यवहारभक्ति की यहाँ बात है, जो कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा के ही सम्यक्रूप से होती है।

अहो! धनञ्जय कवि तो भक्ति की मूसलाधार वर्षा करते हैं, वे तो भक्ति में ही तल्लीन हैं।

- विषापहार प्रवचन, पृष्ठ-18

काव्य : 8

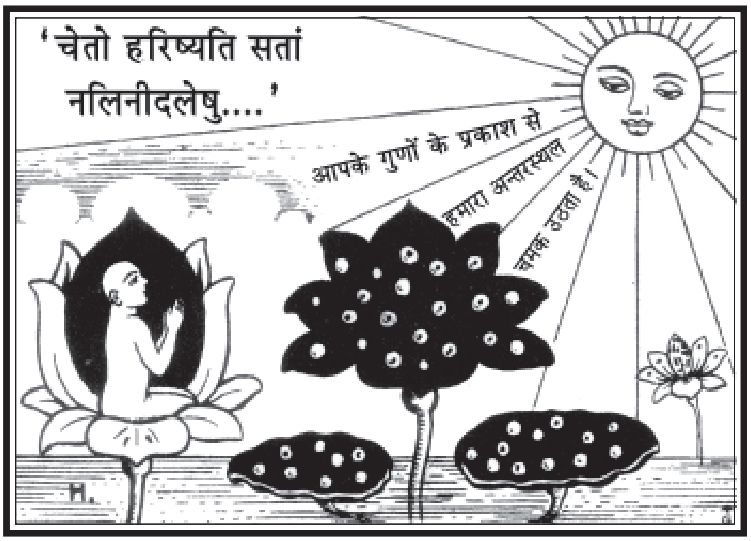

मत्वेति नाथ! तव संस्तवनं मयेद,
मारभ्यते तनु-धियाऽपि तव प्रभावात्।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनीदलेषु,
मुक्ताफल द्युतिमुपैति ननूदबिन्दुः॥ ८॥

मैं मतिहीन-दीन प्रभु तेरी, शुरु करूँ स्तुति अघहान।
प्रभु-प्रभाव ही चित्त हरेगा, सन्तों का निश्चय से मान॥
जैसे कमल पत्र पर जल-कण, मोती कैसे आभावान।
दिपते हैं फिर छिपते हैं असली मोती में हे भगवान॥ ८॥

काव्य - 8 पर प्रवचन

हे देव! इस प्रकार आपकी स्तुति की अपार महिमा जानकर, मैं अल्प बुद्धि होने पर भी आपका स्तवन प्रारम्भ करता हूँ। प्रभो! आपके गुणों के प्रभाव के कारण यह स्तवन (भक्तामर स्तोत्र) सज्जन पुरुषों के चित्त को हर लेगा; इस स्तवन में आपके गुणों की महिमा देखकर सत्पुरुषों का चित्त प्रसन्न होगा। जैसे, खिले हुए कमल के ऊपर ओस की बूँदे भी मोती की चमक समान शोभायमान होती हैं; वैसे ही इस स्तोत्र के शब्दों के वाच्यरूप आपके अचिन्त्य गुणों का प्रभाव होने से यह भी सज्जन पुरुषों के कण्ठ में मोती की माला के समान शोभायमान होता है। आप महान हो, आपके गुण महान हैं; इसलिए आपके गुणों का वाचक यह स्तोत्र भी अत्यन्त शोभा को प्राप्त होगा और सज्जनों के मन को हर लेगा।

प्रभो! भले ही मैं मन्दबुद्धि हूँ, परन्तु जिनका स्तवन करता हूँ – ऐसे आप तो केवलज्ञान के समुद्र हो। मेरे शब्द नहीं, अपितु आपके गुण, सत्पुरुष के चित्त को हर लेते हैं। इस स्तोत्र में आपकी सर्वज्ञता की महिमा / गुणगान सुनकर मुमुक्षु जीव प्रसन्न होंगे कि वाह! प्रभु की कैसी भक्ति की गयी है!! इस प्रकार स्तुति द्वारा आपके गुणों में मुमुक्षु का चित्त स्थिर हो जाएगा।

मेरा साधकज्ञान अल्प होने पर भी, उसकी सन्धि पूर्ण साध्य ऐसे सर्वज्ञास्वभाव के साथ है; इससे वह ज्ञान, मोक्षमार्ग के रूप में शोभायमान हो रहा है। पानी की बूँद, सामान्य जमीन

पर पड़ी तो उसका कोई मूल्य नहीं हैं परन्तु कमल के फूल की पंखुड़ी पर लगी पानी की बूँद (उस कमल के अलिप्त स्वभाव के कारण) उस पर सूर्य की किरण पड़ते ही मोती की भाँति जगमगा उठती है। इसी प्रकार आपके गुणों के प्रति लगी मेरी भक्ति की बिन्दु सच्चे मोती की भाँति शोभायमान होती है। जगत् में समान्य शब्दों की कोई कीमत नहीं है परन्तु जिसके साथ वाच्यरूप आपके अचिन्त्य गुणों की महिमा होती है, वे शब्द, सज्जनों के चित्त को प्रिय लगते हैं और जिनवाणी की भाँति शोभायमान होते हैं तथा उन्हें लक्ष्य में लेनेवाली ज्ञानबिन्दु भी मोक्षमार्ग में सच्चे रत्न के समान शोभायमान हो जाती है।

देखो न, यह भक्तामर स्तोत्र कैसा प्रसिद्ध शोभायमान है! यह किसी बाहर के प्रभाव के कारण नहीं, अपितु इसमें परमात्मा के गुणों का अद्‌भुत वर्णन भरा हुआ है; इसलिए इसकी शोभा है। प्रभो! मैं (स्तुतिकार) भले ही छोटा हूँ, परन्तु स्तुति करने योग्य आप तो तीन लोक में महान हो; इसलिए आपकी स्तुति की महिमा तीन लोक में व्याप्त हो जाती है। ऊर्ध्वलोक के देवेन्द्र भी भक्तिपूर्वक आपकी स्तुति करते हैं; मध्यलोक में मुनीन्द्र भी आपकी स्तुति करते हैं और अधोलोक में धरणेन्द्र आदि भी आपकी स्तुति-गुणगान करते हैं।

अहा! आप तो अनन्त गुणों की प्रभुता से शोभायमान हो और हमारे अन्तर में उछलती यह भक्ति भी मोती की माला के समान शोभायमान हो जाएगी, इससे हमारे परिणाम उज्ज्वल होंगे।

धर्मात्मा का हृदय, परमात्मा के गुणों के प्रति आनन्द से उल्लसित होता है। प्रभो! कुकवि जो विषय-कषायों की पोषक काव्य रचना करते हैं, वह शोभा को प्राप्त नहीं होती; वह तो जीवों का अहित करनेवाली है परन्तु आपके वीतरागी गुणों का स्तवन तो विषय-कषायों से छुड़ाकर वीतरागता की भावना जागृत करता है; इसलिए वह सुन्दररूप से शोभा को प्राप्त होता है, उसे सुनकर सज्जनों का चित्त प्रसन्न होता है।

परमात्मपद का गुणगान गाते और सुनते ही साधक सन्तों को प्रमोद जागृत होता है और उसके द्वारा अपने चित्त को परमात्मगुणों की भावना में जोड़कर सम्यक्त्वादि मोती से उनका आत्मा शोभायमान हो उठता है – ऐसे अध्यात्म भाव इस वीतरागी स्तवन में भरे हुए हैं। ●●

चैतन्य की सँभाल

हे भगवान ! जैसे सूर्य के अभाव में दीपक से भी प्रकाश होता है; उसी प्रकार आप तो अन्तर में परिपूर्णरूप से विराजमान हैं — ऐसी परिपूर्णता तो वर्तमान में प्रगट नहीं हो सकती; अत: अभी तो हम अल्पज्ञान द्वारा ही चैतन्य की सँभाल करते हैं।

- विषापहार प्रवचन, पृष्ठ-9

काव्य : 9

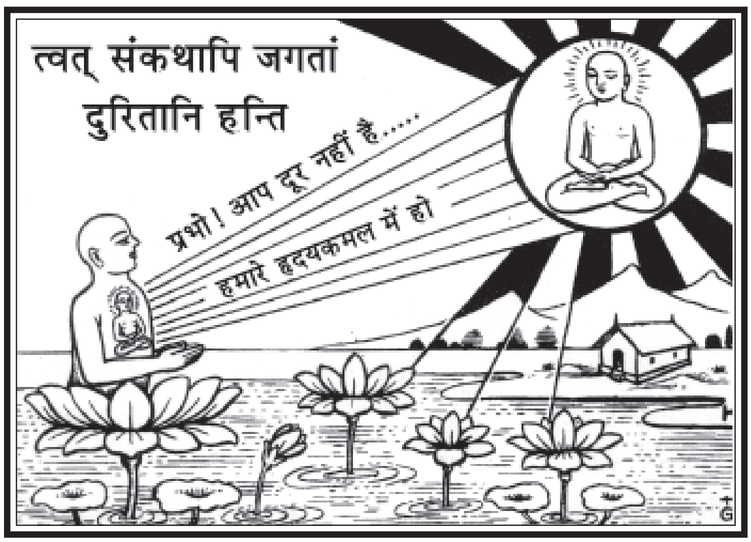

आस्तां तव स्तवनमस्त-समस्तदोषं,
तत्वत्सङ्कथापि जगतां दुरितानि हन्ति।
दूरे सहस्त्रकिरणः कुरुते प्रभैव,
पद्माकरेषु जलजानि विकास भाञ्जि॥ ९॥

दूर रहे स्तोत्र आपका, जो कि सर्वथा है निर्दोष।
पुण्यकथा ही किन्तु आपकी, हर लेती है कल्मष कोष॥
प्रभा प्रफुल्लित करती रहती, सर के कमलों को भरपूर।
फेंका करता सूर्य-किरण को, आप रहा करता है दूर॥ ९॥

काव्य - 9 पर प्रवचन

देखो तो सही! दूर रहे हुए; अर्थात्, असंख्य वर्ष पहले हुए परमात्मा को भी भक्ति के बल से समीप लाकर कहते हैं कि हे प्रभो! आपके साक्षात् केवलज्ञानरूपी सूर्य की तो क्या बात! उसके प्रकाश की किरणें भी हम तक पहुँचकर हमारी आत्मा को विकसित करती हैं। क्षेत्र और काल से भले ही दूर हो, परन्तु हमारे भाव में तो आप समीप ही हो।

सामान्यरूप से 'स्तुति' तो उसे कहते हैं कि जिसमें जो गुण हो, उन्हें बढ़ाकर कहा जाए, परन्तु हे जिनदेव! समस्त दोषरहित और सर्व गुणों से परिपूर्ण – ऐसे आप में जो अगाध गुण विद्यमान हैं, उनका भी पूरा वर्णन करने की मेरी शक्ति नहीं है तो फिर उन्हें बढ़ाकर कहने की तो बात ही क्या है! आप में न हो – ऐसा कोई गुण जगत् में कहाँ है कि जिसे बढ़ाकर मैं स्तुति करूँ?

प्रभो! आपकी पूरी स्तुति की बात तो दूर रही, आपके उत्तम गुणों की सुकथा भी जगत् में पापों को हरनेवाली है। भक्ति से आपका नाम लेने से भी जीवों के पाप दूर हो जाते हैं और उनके गुणों का विकास होने लगता है। पानी का सरोवर तो थोड़ा-सा दूर होने पर भी, उसके ऊपर से प्रवाहित होनेवाली जनबिन्दुवाली शीतल हवा भी गर्मी के ताप से तप्त पथिक को कैसी मधुर शान्ति प्रदान करती है! अथवा हजारों किरणोंवाला सूर्य दूर होने पर उसकी प्रभा भी सरोवर के कमलों को विकसित करती है; उसी प्रकार हे सर्वज्ञ सूर्य! आपके

समान गुणों के निर्विकल्प अनुभव की तो क्या बात! आपके उत्तम गुणों की कथा करने अथवा सुनने से भी हमारा चित्त आपके गुणों में जुड़ जाता है और विषय-कषायों से मुड़ जाता है; इस प्रकार हमारा हृदय कमल विकसित हो जाता है।

इस प्रकार आपके गुणों की कथा भी पाप का नाश करनेवाली है और उन गुणों की अनुभूति तो भव का नाश करनेवाली है।

देखो, गुण के लक्ष्यपूर्वक की यह स्तुति! इसमें निश्चय और व्यवहार दोनों समाहित हो जाते हैं। हे प्रभो! आपने सर्व दोषों का नाश करके, सर्व गुणों से परिपूर्ण सर्वज्ञता प्राप्त की है और दिव्यध्वनि के द्वारा जगत् के लिए सर्वज्ञपद का ढ़िंढोरा प्रसिद्ध किया है कि हे जीवो! अन्तर्मुख होकर सर्वज्ञ होने का तुम्हारा स्वभाव है। जो दोषों से परान्मुख होकर वीतरागी ज्ञानस्वभाव की ओर झुकता है, उसने वीतराग भगवान की कथा सुनी – ऐसा कहा जाता है। जो राग में, बाह्य विषयों में रुका रहता है, उसने तो वास्तव में राग की विकथा सुनी है; वीतराग की सुकथा नहीं सुनी।

अहा! परमात्मा के समान आत्मा का वीतरागस्वभाव और सर्वज्ञस्वभाव! जो उस स्वभाव के प्रेमपूर्वक उसकी कथा सुनता है, उसे अवश्य मिथ्यात्वादि पापों का नारा हो जाता है और सम्यक्त्वरूपी कमल खिल जाता है।

देखो, अभी दश लक्षण पर्व में यह 'भगवत्कथा' पढ़ी जा रही है। भगवान के गुणों की कथा, वह भगवत्कथा है। भगवान ने जिसे प्राप्त किया, उसे प्राप्त करानेवाली यह कथा,

भागवत्कथा है। प्रभो! सम्पूर्ण वीतरागभावरूप आपकी पूर्ण स्तुति तो अल्प काल में केवलज्ञान और पूर्णानन्द देकर हमें आपके समान परमात्मा बना देती है, परन्तु उससे पहले बीच में रागवाली भूमिका में आपके गुणों के प्रति प्रेम और उसकी कथा / स्तुति भी पाप का नाश करनेवाली है। आपके गुणों की प्रीति करनेवाला जीव अल्प काल में ही मोक्ष का भाजन होता है। श्री पद्मनन्दि मुनिराज ने भी कहा है कि —

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्ताऽपि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेत् भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्॥

चैतन्य प्रीति रख चित्त में, उसकी कथा सुनता अरे।
वह भव्य भावी मुक्ति का, निश्चित अहो! भाजन बने॥

जिसने चैतन्यतत्त्व के प्रति प्रेमपूर्वक उसकी वार्ता भी सुनी है, वह भव्यजीव अवश्य ही भविष्य में निर्वाण को प्राप्त करेगा। चित्त में गुणों के प्रति प्रीतिपूर्वक का श्रवण तो अपूर्व है। सुना, परन्तु चित्त में उसकी प्रीति नहीं की तो किस काम का?

अहो नाथ! आपके आत्मा में से तो सर्व पाप दूर हो गये और आपके गुणों की कथा सुननेवाले के भी पाप दूर हो जाते हैं। हे प्रभो! हमारा केवलज्ञान तो अभी थोड़ा आगे है, परन्तु जब आपके केवलज्ञान को लक्ष्य में लेते हैं, तब हमारा सम्यग्ज्ञानरूपी कमल खिल जाता है और अज्ञानरूपी पाप अन्धकार दूर हो जाता है। संसार की जेल अथवा कर्मों के ताले का बन्धन अब हमें नहीं रह सकता।

वाह! देखो तो सही, प्रभु की स्तुति में साधक की

नि:शङ्कता! अन्तर में सर्वज्ञ के निर्णय का जोर भरा हुआ है... उसमें से आवाज आती है कि हमारा अन्धकार टल गया है और केवलज्ञानरूपी प्रभात उदित हुआ है; हमारा चैतन्यरूपी कमल विकसित होने लगा है। असंख्य प्रदेशी चैतन्यबाग में श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द के फूल अनन्त पंखुड़ियों से विकसित हुए हैं – ऐसी श्रद्धावाला जीव ही सर्वज्ञ परमेश्वर की सच्ची स्तुति -भक्ति-उपासना कर सकता है।

भगवान की कथा / प्रथमानुयोग इत्यादि चारों अनुयोगों का प्रयोजन वीतरागता है। वीतरागता के प्रति उल्लास ही वीतरागदेव की भक्ति है। ऐसी भक्ति, राग का नाश करके वीतरागता प्रगट करनेवाली है। राग की पुष्टि का अभिप्राय रखकर भक्ति की जाए तो वह वीतराग की सच्ची भक्ति नहीं है।

हे जीव! यदि वीतराग सर्वज्ञ-भगवान के प्रति तेरे चित्त में भक्ति उल्लसित नहीं होती तो तेरा चित्त पत्थर के समान है, वह खिलेगा नहीं। प्रभु के गुणगान की गुञ्जार सुनते ही भक्त का हृदय फूल के समान खिल जाता है। वाह! ऐसी अद्भुत भक्ति और ऐसे अद्भुत गुण!

हे नाथ! आप मुक्त; अर्थात्, सर्व बन्धन से रहित हो, आपको हृदय में रखकर स्तुति करते ही हमारी दृष्टि खुल गयी है और शुद्धस्वरूप का विकास हुआ है। अब, अन्दर में या बाहर में हमें कोई बन्धन नहीं रह सकता। तुच्छ जीवों के द्वारा बाहर में जैनधर्म की हीनता हो, यह मुनिराज मानतुङ्गस्वामी से सहन नहीं हुआ, इसलिए उपसर्ग जानकर इस स्तोत्र के द्वारा भक्ति की ऐसी झलक जागृत की कि फटाक-फटाक

बन्धन और ताले टूट गये। जिनेन्द्र भक्ति की ऐसी अद्‌भुत महिमा देखकर राजा-प्रजा बहुत प्रभावित हुए और जैनधर्म की जय-जयकार हुई। ऐसा यह भक्तामर स्तोत्र, मात्र बाहर के चमत्कार के लिए नहीं है परन्तु अन्दर में जिनगुणों की महिमा समझने के लिए है, इसमें गहन अध्यात्म के भाव भरे हुए हैं।

श्री जिनसेनस्वामी ने 'महापुराण' में स्तुति का स्वरूप बहुत सरसरूप से बताया है। वहाँ जब भगवान ऋषभदेव को केवलज्ञान हुआ, तब स्तुति करते हुए इन्द्र कहते हैं कि हे भगवन! मेरी बुद्धि मन्द होने पर भी मैं मात्र भक्ति से प्रेरित होकर गुणरूपी रत्नों की खान से भरपूर आपकी स्तुति करता हूँ; आप वीतराग होने पर भी, आपकी स्तुति करनेवाले को अपने विशुद्धपरिणाम के कारण उत्तम फल स्वयं प्राप्त होते हैं। पवित्र गुणों का कीर्तन करना, वह स्तुति है। प्रसन्न बुद्धिवन्त भव्य जीव, स्तुति करनेवाला है; सर्व गुणों से सम्पन्न आप सर्वज्ञदेव, स्तुति करने योग्य हो और मोक्षसुख की प्राप्ति, स्तुति का उत्तम फल है।

प्रभो! आपकी भक्ति, आपके गुणों की स्तुति, मुमुक्षु जीवों को आनन्दित करती है। राग-द्वेषरहित और ज्ञान-आनन्दसहित आप वस्त्राभूषण के बिना ही सर्वोत्कृष्ट रूप से शोभायमान हो रहे हैं। आत्मा की शोभा परिग्रह से नहीं है, वीतरागता से आत्मा की शोभा है। आपकी प्रभुत्वशक्ति भी कैसी आश्चर्यकारी है कि क्रोध किये बिना आपने मोहरूपी शत्रु का हनन कर दिया। स्वयं आत्मा में से ही आप सर्वज्ञरूप से प्रगट हुए हो, इस कारण 'स्वयंभू' – ऐसे आपको नमस्कार हो। आपके जैसे गुण हमारे में भी प्रगट करना, वही आपकी परम

स्तुति है; इसलिए आपके जैसे गुणों का अंश अपने में प्रगट करके मैं आपकी स्तुति करने के लिए उद्यमी हुआ हूँ। भले ही आपके सम्पूर्ण गुणों की स्तुति वचनों से नहीं होती परन्तु आपके गुणों का प्रेम और उसकी सुकथा भी हमें आनन्द देनेवाली हैं, उसके द्वारा जो हमारे में नहीं हों – ऐसे गुण हम प्रगट करते हैं और ज्ञान से आत्मा की अनुभूति करने में सर्व गुण समाहित हो जाते हैं। ऐसी स्वानुभूतिरूप अभेद भक्ति से मैं भी परमात्मपद प्राप्त करूँगा, तब आपकी स्तुति पूर्ण होगी; वहाँ स्तुति करने योग्य और स्तुतिकार (भगवान और भक्त अथवा साध्य और साधक) – ऐसा भेद भी नहीं रहेगा।

देखो, परमभक्ति ही निर्वाणभक्ति है। मोक्षगत; अर्थात्, मोक्ष को प्राप्त कर चुके सिद्ध भगवान की भक्ति है। रत्नत्रय भक्ति अथवा मोक्ष के कारणरूप भक्ति है। श्रमण तथा धर्मी श्रावक भी ऐसी भक्ति करते है... इसलिए वे भक्त हैं...भक्त हैं —

'भक्तो भक्तो भवति संतत श्रावकः संयमी वा'

नियमसार में परमभक्ति का वर्णन करते हुए कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं —

सम्यक्त्व, ज्ञान चारित्र की श्रावक श्रमण भक्ति करे।
उसको कहें निर्वाण-भक्ति परम जिनवर देव रे॥ १३४॥

जो जीव, भवभय को हरनेवाले इस सम्यक्त्व की, शुद्धज्ञान की और चारित्र की भवछेदक अतुल भक्ति निरन्तर करता है, वह निरन्तर भक्त है... भक्त है... अर्थात् वह मोक्ष का साधक है। आसन्न भव्य जीव ऐसी भक्ति करते हैं। इस भक्तामर स्तोत्र में भी ऐसी वीतरागी भक्ति का ही तात्पर्य समझना है।●●

काव्य : 10

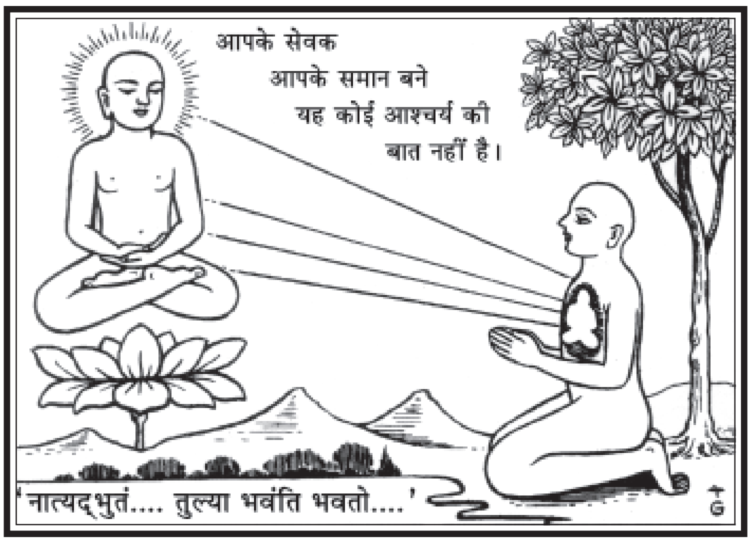

नात्यद्भुतं भुवनभूषण! भूतनाथ!
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः।
तुल्याभवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति॥ १०॥

त्रिभुवनतिलक जगतपति हे प्रभु! सद्गुरुओं के हे गुरुवर्य्य।
सद्भक्तों को निजसम करते, इसमें नहीं अधिक आश्चर्य॥
स्वाश्रित जन को निजसम करते, धनी लोग धन धरनी से।
नहीं करें तो उन्हें लाभ क्या? उन धनिकों की करनी से॥ १०॥

काव्य - 10 पर प्रवचन

हे भुवन के भूषण और 'भूतनाथ', अर्थात् जीवों के नाथ! आपकी स्तुति करनेवाले जीव, गुणों में आपके समान हो जाते हैं – यह कोई अति-अदभुत आश्चर्य की बात नहीं है। लोक में भी स्वामी अपने आश्रित सेवकों को अपने समान सुखी करते हैं। सेवक की दरिद्रता दूर नहीं करे तो ऐसे स्वामी से क्या प्रयोजन है ? प्रभो! हमने आपको नाथरूप में स्वीकार किया है, इष्टदेव के रूप में माना है, वह किसलिए? आपके समान बनने के लिए।

'अद्भुत मधुरता! अद्भुत परिणाम!! अद्भुत कवित्व!!! – ऐसा महाकाव्य है।' देखो, अब भगवान की स्तुति जमती जा रही है। जिनकी स्तुति की जा रही है, उनके गुण अद्भुत हैं, स्तुतिकार के भाव भी अद्भुत हैं और भाषा की मधुरता भी अद्भुत है।

यहाँ अरहन्त परमात्मा को 'भूतनाथ' कहकर सम्बोधित किया है, वह इसलिए कि साधक जीव आपको ही अपना नाथ समझते हैं, क्योंकि धर्म की प्राप्ति में, रक्षा में और पूर्णता में आप ही हमारे निमित्त हो। 'महादेव' को 'भूतनाथ' कहा जाता है। हे अरहन्त देव! हे ऋषभनाथ! आप ही हमारे सच्चे महादेव हो।

हे सर्वज्ञ परमात्मा! आप जगत् के आभूषण हो, तीन लोक की शोभा आपके कारण ही है; आपके केवलज्ञानादि गुणों के कारण ही हमारी शोभा है। गुणों के भण्डार, आपकी सेवा करने

से हमें गुणों की प्राप्ति हो – इसमें क्या आश्चर्य है ? जो जिसकी सेवा करता है, वह उसके समान बन जाता है; इसलिए कहा है कि पारसमणि की अपेक्षा भी परमात्मा महान है, क्योंकि पारसमणि के स्पर्श से तो लोहा मात्र स्वर्ण बनता है, वह स्वयं पारस नहीं बनता, जबकि परमात्मा के सेवन से तो यह जीव स्वयं परमात्मा बन जाता है।

वास्तव में जगत् में जो भी शोभा–सुन्दरता है, वह देव –गुरु–धर्म से ही है – ऐसा श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है। अहा! उत्तम पुण्य का मार्ग भी सच्चे देव–गुरु–धर्म के आश्रय के बिना अन्य कहाँ है ? अन्य कुमार्ग में उत्तम पुण्य भी नहीं होता; धर्म और मोक्षमार्ग की तो बात ही क्या ? हे प्रभो ! आपके मार्ग की उपासना से तो मैं आपके समान परमात्मा बन जाऊँगा, वहाँ बीच में महापुण्य बँध जाए - यह कौनसी बड़ी बात है ? आराधकभावसहित पुण्य अलौकिक होता है, फिर भी मोक्ष के साधक को उसकी भी महिमा नहीं होती, वह तो परमात्मा के समान केवलज्ञानादि गुणों को साधकर परमात्मा होने की ही भावना भाता है। भक्त की नजर परमात्मस्वभाव पर है, इससे कम उसे पोषाता नहीं है।

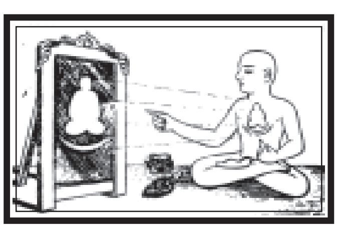

हे धर्म पिता सर्वज्ञ जिनेश्वर,
चेतन मूरति आप ही हो।
मुझ चेतनरूप दिखाने को,
दर्पणसम् प्रभु आप ही हो॥

तुम परमात्मा... मैं परमात्मा... इस प्रकार आत्मा में सिद्धपना

स्वीकार करके साधक जीव यह स्तुति करता है। यह स्तुति राग में अटकने के लिए नहीं है। इस स्तुति में तो राग को तोड़कर परमात्मा बनने की भावना है।

अहा! देखो तो सही! दिगम्बर मुनिराज की पुकार। परमात्मपद की झंकार के अतिरिक्त दूसरी बात नहीं है। प्रभो! आपके केवलज्ञानादि अद्भुत गुणों को देखते ही हमारा आत्मा, राग से भिन्न होकर केवलज्ञान की साधना में लग गया है। अब, अल्प काल में केवलज्ञान लेकर ही रहूँगा।

धर्मी जीव, पुण्य के पीछे भी वीतरागी देव-गुरु को ही निमित्तरूप देखता है। जगत् में तीर्थङ्करपद या चक्रवर्ती-इन्द्रादि महान पुण्यपद, जैनधर्म के आराधक को ही मिलते हैं – ऐसा उत्तम पुण्य अन्य किसी को नहीं बँधता है; फिर भी धर्मी को पुण्य से पार वीतरागी चैतन्यपद की महिमा है।

हे देव! आपके द्वारा उपदिष्ट अहिंसादि धर्म नहीं होते तो जगत् के जीवों को सत्पुण्य कहाँ से होता! निश्चयधर्म या व्यवहारधर्म की प्राप्ति जिनवाणी के प्रसाद से ही होती है। जिनदेव के उपदेश के बिना कन्दमूल आदि में अनन्त जीवों का अस्तित्व कहाँ से जानते? और जीवों का अस्तित्व जाने बिना उनकी दया कैसे पालन कर सकते? और जीवों की दया के बिना पुण्य भी कैसे होता? इसलिए हे देव! हम तो धर्म में या पुण्य में भी आपका ही प्रभाव देखते हैं। वीतरागी देव-गुरु के बिना हम पूजा किसकी करते? इस प्रकार हे त्रिलोकीनाथ! आप ही हमारे धर्म के रक्षक और पोषक हो,

आपके आश्रय से हमें भी परमात्मपद की प्राप्ति होगी – ऐसे भाव से साधक जीव, सर्वज्ञ परमात्मा की स्तुति करते हैं; उनके गुणों की महिमा, धर्मी के ज्ञान में उत्कीर्ण हो गयी है।

देखो, यह भक्ति में धर्मी का उल्लास! इस स्तुति में 'मानतुङ्ग' स्वामी की गहरी पुकार है कि प्रभु आदिनाथ के लक्ष्य से धर्म की 'आदि' की है – साधकदशा की शुरूआत की है; अब पूर्ण परमात्मा होकर मोक्ष प्राप्त करूँगा। अभी इस पञ्चम काल में परमात्मपद प्राप्त करने की हमारी शक्ति नहीं है, तो भी आत्मा की आराधना के बल से निश्चय है कि एक –दो भव में ही उस परमात्मपद को प्राप्त करूँगा। प्रभु के मार्ग में लगे हैं... अब प्रभु होकर ही रहूँगा।

देखो, इस भक्तामर स्तुति में कैसे गम्भीर भाव भरे हैं, उनका स्पष्टीकरण होता है।

अहा! भगवान का भक्त, स्वयं भक्त मिटकर भगवान बन जाए, इससे हमें कुछ आश्चर्य नहीं लगता, अतिरेक नहीं लगता, परन्तु यह तो सहज वस्तुस्थिति ही है, इसमें आश्चर्य क्या है? प्रभो! आपका आश्रय लेने के बाद हम आपके समान न हों तो क्या आपसे कम, अर्थात् संसारी रहेंगे? तब तो आपके समान बड़े का आश्रय लेना किस काम का?

एक स्तुति में आता है कि 'सहकार आगे क्या माँगना....' सहकार, अर्थात् आम्र। जैसे, आम के वृक्ष पर पके आम लटकते हैं, तब बालक नीचे खड़े-खड़े आम ले लेता है, उसे आम के वृक्ष से आम माँगने नहीं पड़ते; उसी प्रकार हे नाथ! आप

तो चैतन्यधर्म के आमवृक्ष हो; आपकी भक्ति करने से परमानन्ददशारूप फल सहज ही प्राप्त हो जाता है; आप से माँगना नहीं पड़ता कि मुझे परमात्मपद प्रदान करो! यद्यपि परमात्मपद की ऐसी साधना में उत्तम पुण्य का योग भी सहज हो जाता है, परन्तु हे प्रभो! हम तो आपके समान होने के लिए आपकी सेवा करते हैं।

जैनधर्म में ही यह एक विशेष विशिष्टता है कि उसमें सर्वज्ञस्वामी का सेवक, सदा सेवक ही नहीं रहता, अपितु वह स्वयं केवलज्ञानादि वैभव प्रगट करके सर्वज्ञ परमात्मा बन जाता है। परमात्मा की उपासना करनेवाले का लक्ष्य स्वयं परमात्मा बनने का है, इसलिए स्वयं में परमात्मस्वभाव है; उसकी प्रतीति करके, उसकी अन्तरङ्ग उपासना से परमात्मपद को साध लेता है, भक्त स्वयं भगवान बन जाता है... यह है जैन भक्ति का फल! ●●

दर्शन प्रतिमा

जगत के अज्ञानीजन तो ऐसा मानते हैं कि प्रतिदिन भगवान के दर्शन करना ही 'दर्शनप्रतिमा' है किन्तु भाई! वस्तुतः अन्तर में निजात्मभगवान के दर्शन करना ही दर्शनप्रतिमा है।

– विषापहार प्रवचन, पृष्ठ-15

काव्य : 11

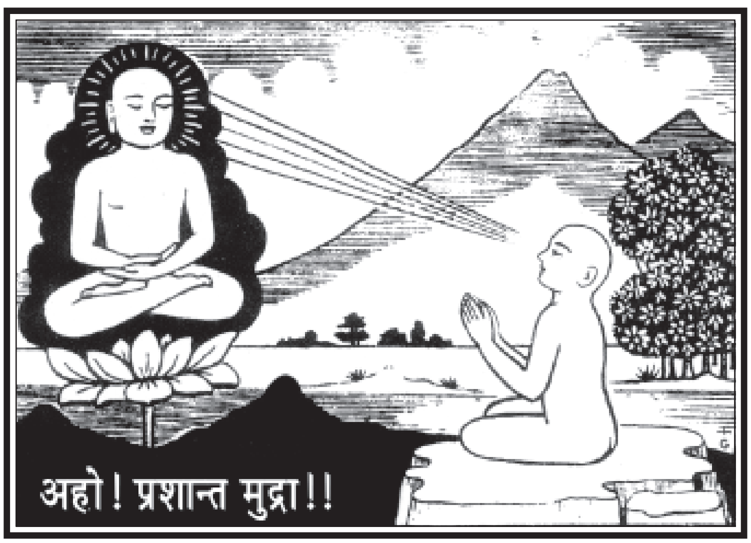

दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीयं,
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः।
पीत्वा पयः शशिकरद्युतिदुग्ध-सिंधोः,
क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत् ॥ ११ ॥

हे अनिमेष विलोकनीय प्रभु, तुम्हें देखकर परम-पवित्र।
तोषित होते कभी नहीं हैं, नयन मानवों के अन्यत्र॥
चन्द्र-किरण सम उज्ज्वल निर्मल, क्षीरोदधि का कर जलपान।
कालोदधि का खारा पानी, पीना चाहे कौन पुमान॥ ११ ॥

काव्य - 11 पर प्रवचन

हे देव! अनिमेष नयन से, अर्थात् एकटक नजर से अवलोकन करने योग्य आपका शान्त-वीतराग रूप देखने के बाद अन्य कहीं हमारी आँख नहीं ठहरती। आपके अद्‌भुत रूप में ही हमारी दृष्टि स्थिर हो गयी है; वह अब अन्यत्र कहीं सन्तोष प्राप्त नहीं करती। क्षीरसागर का चन्द्रमा की किरण जैसा उज्ज्वल और मीठा दूध जैसा जल पीने के बाद समुद्र के खारे और लवण मिले हुए जल पीने की इच्छा किसे होगी? आत्मा का अतीन्द्रिय चैतन्यरस चखने के बाद इन्द्रियविषयों में कौन रमण करेगा?

देखो, यह भगवान के प्रति भक्ति में अर्पणता और सत्-असत् का विवेक! इस जम्बूद्वीप को आवेण्टित करता हुआ खारा लवणसमुद्र है, फिर पाँचवां क्षीरसमुद्र है, उसका पानी स्वाद में दूध जैसा मीठा और रंग में चन्द्रमा जैसा उज्ज्वल होता है। उस क्षीरसमुद्र के जल से तीर्थङ्करों का जन्माभिषेक होता है। यहाँ कहते हैं कि क्षीरसमुद्र का ऐसा मीठा जल पीने के बाद, अब खारा जल कौन पियेगा? हे देव! आप तो अतीन्द्रिय शान्ति के समुद्र हो; आपके मार्ग में चैतन्य की शान्ति चखने के बाद अब राग-द्वेष-कषाय का कड़वा स्वाद किसे अच्छा लगेगा? आपका शान्त-वीतरागस्वरूप देखने के बाद अन्य रागी-द्वेषी कुदेव तो हमें खारे-खारे लगते हैं; वे कोई भी हमारे चित्त को आकर्षित नहीं कर सकते। प्रभो! हमें राग में सन्तोष नहीं होता, हमारा चित्त तो वीतराग में सन्तुष्ट होता है।

देखो, सुदेव और कुदेव के बीच का विवेक! तथा अन्दर में स्वभाव और विभाव के बीच का विवेक! शान्तरस के मीठे स्वाद के समक्ष कषाय कड़वी लगती है। प्रभो! आपके समान शुद्धस्वभाव में हमारी दृष्टि अनिमेषपने स्थिर हो गयी है, वह रूप ऐसा अद्भुत है कि अब वहाँ से दृष्टि हटती ही नहीं; शुद्धस्वभाव की दृष्टि से ही जो समयग्दर्शन हुआ, जो ज्ञानदृष्टि का उदय हुआ, वह फिर कभी अस्त नहीं होगा। तीर्थङ्कर भगवान का रूप बाहर में भी एकदम आश्चर्यकारी होता है और अन्दर के चैतन्य-अतीन्द्रिय रूप की तो बात ही क्या है! उस रूप को देखते ही जो स्वभावदृष्टि हुई, वह अब कभी रागादि में जानेवाली नहीं है।

जिनदेव का भक्त बाहर में भी रागी-द्वेषी-कुदेव को कभी नहीं मानता है। सर्वज्ञदेव को पहचानकर, उनके प्रति शीश झुकाया, वह अब किसी दूसरे (कुदेव) के सामने नहीं झुकेगा। प्रभो! आपका दिव्य शान्तरूप हजार नेत्रों से निहारते हुए 'हरि' को, अर्थात् इन्द्र को ऐसी तृप्ति हुई कि उनके नेत्र अब झपकते भी नहीं हैं, उनके नेत्र स्थिर हो गये हैं – ऐसा है आपके शरीर का रूप! तब सर्वज्ञता से शोभायमान आपके शान्तरूप की तो क्या बात! उसे देखने के बाद हमारी दृष्टि अब अन्यत्र कहीं जानेवाली नहीं है।

अप्रतिहतभाव से अन्तर्दृष्टि से आपका रूप (शुद्धात्म -स्वरूप) देखते-देखते हम भी परमात्मा बन जाएँगे; बीच में विभाव में कहीं अटकेंगे नहीं। अब, स्वभाव को छोड़कर स्वप्न

में भी विभाव का आदर होनेवाला नहीं है और कुदेवादि के प्रति झाँककर भी देखनेवाले नहीं हैं। अहा! स्वानुभव में आपकी सर्वज्ञता देखकर, वीतरागता देखकर, शान्ति देखकर, अब अन्यत्र कहीं हमारा चित्त मोहित होनेवाला नहीं है। जैसे, बालक अपनी प्रिय माता को बार-बार निहारता है; वैसे ही धर्मी जीव अपने परम इष्ट सर्वज्ञदेव की शान्त वीतरागमुद्रा को एकटक निहारकर प्रसन्न होता है।

यह भक्ति, भगवान की अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों प्रकार की पहचानसहित है। तीर्थङ्करों के आत्मा में केवलज्ञान की दिव्यता और बाहर में पुण्य की भी दिव्यता होती है। जैसे, जवाहरात के आभूषण आदि मूल्यवान माल को रखने का डिब्बा भी उत्कृष्ट होता है; वैसे ही तीर्थङ्करदेव की आत्मा की सर्वज्ञता तो अचिन्त्य-अद्भुत होती ही है; उसे रखने की पेटी -परमौदारिक शरीर भी ऐसा सुन्दर दिव्य रूपवाला होता है कि इन्द्र जैसे भी उसे देखकर आश्चर्यचकित होते हैं।

जो मात्र बाहर का डिब्बा, अर्थात् शरीर देखकर अन्दर के माल की पहचान नहीं करता, उसे वास्तविक लाभ नहीं होता। धर्मी जीव तो अन्दर के माल को, अर्थात् चैतन्यस्वभाव को पहचानकर भगवान की भक्ति करते हैं। जगत् से उदास किन्तु भगवन्त के दास – ऐसे धर्मीजीव, भगवान को देखते ही शान्तरस में स्थिर हो जाते हैं। परमात्मा की पूर्णता और साधक की शुरूआत – ऐसी सन्धिपूर्वक की यह भक्ति है। पूर्णता के लक्ष्य से साधक को शान्तभाव की जो शुरूआत होती है, वह अप्रतिहतरूप से पूर्ण होगी।

जैसे, सोलह वर्ष के वियोग के बाद अपने पुत्र प्रद्युम्न को देखकर माता रुक्मिणी अत्यन्त प्रसन्न होकर हृदय के हार के समान उससे लिपट पड़ी; वैसे ही हे परम प्रिय परमात्मा! अनादि से आपका विरह था, उस मुझे आपकी भेंट होने पर मेरा हृदय प्रसन्नता से उछल जाता है। मेरे हृदय के हार, मेरी आँखों के तारे... आप मुझे मिले, अब मैंने आपको पहचाना, मुझे आपकी लगन लगी, तो अब संसार में कहीं मेरा चित्त नहीं लगता। कुदेवादि के सामने देखना तो दूर रहा; धन-स्त्री-राग -पुण्य.... ये सब... नहीं... नहीं... वे हमें अब इष्ट नहीं लगते; मात्र आपके समान परम चैतन्यपद ही हमें परम इष्ट / प्रिय लगता है। हे देव! उसकी साधना के लिए आप ही हमारे नेता हो, मार्गदर्शक हो। देखो, भक्त ऐसे भाव के उत्तरदायित्वसहित भगवान की भक्ति करता है।

क्षीरसमुद्र में मगर-मच्छ नहीं हैं, मैल नहीं हैं, उसका पानी खीर जैसा मीठा है; उसे चखने के बाद लवणसमुद्र का खारा पानी मुँह में कौन डालेगा? उसी प्रकार हे देव! हमने आपके शासन में आकर चैतन्यसमुद्र की अतीन्द्रियशान्ति का रस चखा है, अब सारा संसार हमें खारा लगता है.... हमारी परिणति समस्त परभावों से पीछे मुड़कर अन्तर के स्वभाव की ओर ढलती है। अब, सर्वज्ञ-वीतरागदेव के अतिरिक्त अन्य दूसरे अज्ञानी -रागी कुदेवों की मान्यता आत्मा के सर्व प्रदेशों से छूट गयी है।

हे देव! जो रागादि में धर्म मानते हैं, उन्होंने तो वीतराग

– ऐसे आपको देखा ही नहीं है। आपका वीतरागी रूप जगत् में सबसे सुन्दर है, उसे पहचानने के बाद हमारी दृष्टि अब अन्यत्र कहीं स्थिर नहीं होती; हमारे रोम-रोम में, प्रदेश-प्रदेश में आपकी वीतरागता बस गयी है।

इस प्रकार हम वीतरागस्वभाव की भक्ति करते-करते सिद्धपद को साध रहे हैं। ●●

वीतरागता का सन्देश

हे प्रभो ! आप तो सभी के लिए दर्पणवत् समान हैं। जिस प्रकार दर्पण के सन्मुख अपना चेहरा करनेवाले तो स्वयं ही दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखकर आनन्दित होते हैं और दर्पण की तरफ पीठ करनेवाले अपना प्रतिबिम्ब न देख पाने के कारण स्वयं ही दुःखित होते हैं; इसमें दर्पण का तो किञ्चित् भी दोष नहीं है, वह तो दोनों के लिए समानरूप से ही चेहरे को प्रतिबिम्बित करनेवाला है। इसी प्रकार आप जैसे त्रिलोकीनाथ की भक्ति करनेवाले जीव तो सहज सुखोपलब्धि करते हैं और आपसे विमुख रहनेवाले अज्ञानीजन स्वयं ही दुःखी होते हैं, इसमें आपका किञ्चित् भी दोष नहीं है, क्योंकि आप तो वीतरागी हैं, आप तो राग-द्वेषपूर्वक किसी को सुख-दुःख प्रदाता है ही नहीं।

– विषापहार प्रवचन, पृष्ठ-25

काव्य : 12

यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत!
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां,
यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति ॥ १२॥

जिन जितने जैसे अणुओं से, निर्मापित प्रभु तेरी देह।
थे उतने वैसे अणु जग में, शान्त-रागमय निःसन्देह॥
हे त्रिभुवन के शिरोभाग के अद्वितीय आभूषण-रूप।
इसीलिए तो आप सरीखा, नहीं दूसरों का है रूप॥ १२॥

काव्य - 12 पर प्रवचन

हे तीन लोक के तिलकरूप प्रभो! आपका आत्मा तो उत्कृष्ट है ही; आपका शरीर भी परमाणुओं में उत्कृष्ट है। राग की चेष्टा से रहित शान्तरसवाले जिन सुन्दर परमाणुओं से आपका शरीर बना है, वे सुन्दर परमाणु जगत् में इतने ही थे। जगत् में जितने श्रेष्ठ परमाणु थे, वे सब आपके अति सुन्दर परमौदारिक शरीररूप परिणमित हो गये हैं; अब ऐसे सुन्दर परमाणु शेष नहीं रहे; इसलिए आपके समान अद्भुत शान्तरूप अन्य किसी का नहीं होता है। आपका आत्मा तो शान्तरस का सागर और देह सौन्दर्य का सागर है।

भगवान की वीतराग मुद्रा पर जैसी शान्ति होती है, वैसी अन्य किसी रागी-द्वेषी कुदेव की मुद्रा में नहीं होती। प्रभु का आत्मा तो शान्तरस में व्याप्त हो ही गया है, शरीर भी राग की चेष्टा से रहित होकर मानो शान्तरस में भीग गया हो! **'उपशम रस बरसे रे प्रभु तेरे नयन में'** – जिस मुद्रा को देखकर मुमुक्षु को आत्मा के शान्तरस की प्रतीति हो जाती है –ऐसी शान्ति की झलकवाली प्रभु की मुद्रा होती है। तीर्थङ्कर प्रभु का एक अतिशय ऐसा होता है कि उनके दिव्य शरीर में देखनेवाले को स्वयं के अगले-पिछले सात भव का ज्ञान हो जाता है और सर्व प्रकार से शुद्ध प्रभु के 'चैतन्यरूप' को जो देखता है, उसे तो भावरहित अपना स्वभाव अनुभव में दिखायी देता है। सर्वज्ञदेव, आत्मा का शुद्धरूप देखने के लिए दर्पण के समान हैं।

देखो तो सही! मानो भगवान सामने ही विराजमान हों और स्वयं उनकी स्तुति करते हों – ऐसे अद्भुत भावों से यह स्तोत्र रचा गया है। प्रभु की मुद्रा एकदम वीतराग, महासुन्दर, शान्त-शान्त, गम्भीर और प्रसन्न होती है। देखनेवाले को चारों ओर से भगवान अपने सन्मुख ही दिखते हैं। प्रभु के शरीर में रोगादि नहीं होते हैं। आहार-पानी के बिना भी हजारों, लाखों, करोड़ों, बर्षों तक भगवान का शरीर ऐसा का ऐसा तेजस्वी रहता है। अशरीरी अतीन्द्रिय शान्तरसमय जीवन जीनेवाले भगवान को आहार, पानी या मल-मूत्र कैसा? भगवान होने के बाद भी आहार-राग या मल-मूत्र माननेवाले ने तो भगवान के शरीर की दिव्यता की पहचान भी नहीं की है और अन्दर के अतीन्द्रिय सुख को भी उसने नहीं जाना है।

भगवान की गम्भीरता, समुद्र के समान होती है और उनके समीप ऐसी शान्ति छा जाती है कि सिंह-बाघ आदि जीव भी एक-दूसरे पर उपद्रव नहीं करते, तो फिर भगवान पर स्वयं कोई उपद्रव करे, यह कैसे सम्भव है? भगवान तो शान्तरस में लीन हैं और उनके समीप दूसरे रागी-द्वेषी जीव भी शान्तभाव में स्थिर हो जाते हैं। अरे जीव! ऐसे तीन लोक में परमात्मा को पहचानकर उनकी भक्ति कर... तो तेरे भव का भी अन्त आ जाएगा। जिसके अन्तर में केवली भगवान की और उनके अतीन्द्रिय सुख की प्रतीति हो गयी है, वह जीव अत्यन्त आसन्नभव्य, अर्थात् निकट मोक्षगामी है – ऐसा कुन्दकुन्दस्वामी प्रवचनसार गाथा-62 में कहते हैं।

अरे, अभी तो जीवों को केवली तीर्थङ्कर के दिव्य पुण्य

की प्रतीति भी भारी पड़ती है तो अन्तर के दिव्यज्ञान और सुख को तो वे कैसे जानेंगे? यह जानने के लिए स्वयं को भी उसी जाति का अतीन्द्रियभाव जागृत होना चाहिए; मात्र राग से या इन्द्रियज्ञान से प्रभु की सच्ची पहचान या सच्ची भक्ति नहीं हो सकती। आंशिक अतीन्द्रियभाव और आंशिक वीतरागभाव अपने में प्रगट करें, तब ऐसे पूर्णपरमात्मा की प्रतीति, पहचान और भक्ति होती है – यह अपूर्व न्याय है... और वह भेदज्ञान तथा सम्यग्दर्शन का कारण है।

हे देव! आप तीन लोक में सबसे सुन्दर और श्रेष्ठ हो। यहाँ चैतन्य में उत्कृष्ट परिणमनरूप सर्वज्ञता हुई, वहाँ बाहर पुद्गल में भी उत्कृष्ट परिणमनरूप परमाशान्तरूप शरीर की रचना हुई – ऐसा प्राकृतिक का सुमेल है; अन्य किसी को ऐसा शरीर नहीं होता है। जैसे, जगत् में केवलज्ञान से उत्कृष्ट कोई ज्ञान नहीं है; वैसे ही प्रभु के परमौदारिक शरीर से बढ़कर जगत् में कोई रूप नहीं है। चेतन की जितनी शोभा थी, वह सब आपकी आत्मा में एकत्रित हो गयी और पुद्गल की जितनी शोभा थी, वह सब आपकी देह में एकत्रित हो गयी; इसलिए जगत् में आपके समान सुन्दरता अन्य किसी में नहीं है। अरे! ऐसे भगवान को छोड़कर दूसरे को कौन भजे?

प्रभो! पूर्व में साधकदशा में शुद्धोपयोग बढ़ते-बढ़ते उसकी पराकाष्ठारूप से केवलज्ञान हुआ और साधकदशा में साथ के राग से पुण्य का रस बढ़ते-बढ़ते उत्कृष्ट पुण्यरूप तीर्थङ्करपना हुआ। इस प्रकार चेतन और जड़ दोनों अपनी-अपनी सुन्दरता

की उत्कृष्ट मर्यादा को प्राप्तकर, अन्त में दोनों भिन्न होकर, आप सिद्ध परमात्मा बन गये। पुण्य, जीव का स्वभाव नहीं है; इसलिए अन्त में वह छूट जाता है। सर्वज्ञता और सिद्धपद, जीव का स्वभाव है, वह कभी नहीं छूटता। इस प्रकार दोनों का भेदज्ञान समझना चाहिए। ऐसे भेदज्ञानपूर्वक भगवान के गीत गानेवाले के भव की बेड़ी के बन्धन टूट जाते हैं। पूर्व के पापकर्म भी पुण्यकर्मरूप पलट जाते हैं – ऐसा सम्यक् स्तुति का फल है। ●●

सम्यक् भक्ति का स्वरूप

वस्तुत: बात तो यह है कि इस जीव ने न कभी सच्ची भक्ति ही की है और न भक्ति के स्वरूप का श्रवण ही किया है।

यहाँ भगवान की मात्र रागरूप भक्ति की बात नहीं है, अपितु जिसके व्यवहारभक्ति के पीछे परिणमनरूप से निश्चयभक्ति विद्यमान है, उसकी भक्ति ही सम्यक् भक्ति कही जाती है।

हे भगवान! आपके भक्त को भवभ्रमण की भीड़ रहे — ऐसा कदापि नहीं हो सकता। यही कारण है कि मुनिवर पद्मप्रभमलधारिदेव ने नियमसार परमागम में कहा है कि 'यदि तुझे भगवान जिनेन्द्र के प्रति भक्ति नहीं है, तब तो तू भवसागर के मध्य में मगर के मुख में स्थित है।'

– विषापहार प्रवचन, पृष्ठ-33

काव्य : 13

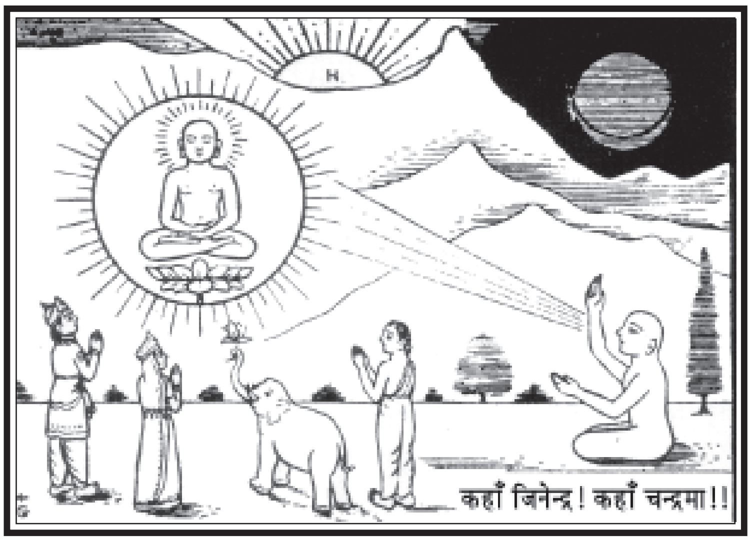

वक्त्रं क्व ते सुरनरोरग नेत्रहारि,
निःशेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम्।
बिम्बं कलङ्कमलिनं क्व निशाकरस्य,
यद्वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम् ॥ १३ ॥

कहाँ आपका मुख अतिसुन्दर, सुर-नर-उरग नेत्रहारी।
जिसने जीत लिये सब जग के, जितने थे उपमाधारी॥
कहाँ कलंकी बंक चन्द्रमा, रंक-समान कीट सा दीन।
जो पलाश-सा फीका पड़ता, दिन में हो करके छवि-छीन॥ १३ ॥

काव्य - 13 पर प्रवचन

बहुत से लोग कहते हैं कि भगवान का मुख चन्द्रमा के समान है – परन्तु हे देव! हमें उस उपमा से सन्तोष नहीं होता। केवलज्ञान की दिव्यप्रभा से झलकती आपकी निष्कलङ्क मुद्रा के सामने चन्द्रमा की क्या गिनती है?

चन्द्रमा तो कलङ्कवाला है, (उसमें काले-काले दाग दिखते हैं) और आप तो राग-द्वेषरहित निष्कलङ्क हो।

चन्द्रमा का तेज तो दिन में सूखी घास के समान एकदम फीका और पीला पड़ जाता है, जबकि आपका तेज तो दिन या रात, सदा काल एक समान ही रहता है।

केवलज्ञान का तेज तो सदैव अनन्त काल तक ऐसा का ऐसा रहता है और शरीर हजारों-लाखों-करोड़ों वर्षों तक रहे तो भी अन्त तक उसका तेज ऐसा का ऐसा रहता है, कभी फीका नहीं पड़ता; इसलिए कहाँ चन्द्रबिम्ब और कहाँ आपका मुखमण्डल! आपकी परम उपशान्त दिव्य वीतरागी मुद्रा तो ऊर्ध्वलोक के सुरेन्द्र; मध्यलोक के नरेन्द्र; और अधोलोक के नागेन्द्र-धरणेन्द्र – ऐसे तीनों लोक के जीवों के नेत्रों को मुग्ध करनेवाली है और तीन लोक सम्बन्धी समस्त उपमाओं को जीतनेवाली है। आपके दिव्यरूप की समानता कर सके – ऐसा तीन जगत् में कोई नहीं है।

प्रभो! आपका आत्मा तो परम शान्त है और उस शान्ति की प्रभा आपकी मुद्रा में भी दिखायी देती है। जैसे, मीठे तालाब का पानी पीने में ठण्डा और उसके समीपवर्ती हवा भी ठण्डी!

उसी प्रकार प्रभु का आत्मा तो शान्तरस में मग्न और देह की मुद्रा भी शान्त! चन्द्रमा में तो काले धब्बे दिखते हैं परन्तु प्रभु की मुद्रा में कोई कलङ्क नहीं है; राग-द्वेष का कोई भी दाग प्रभु में नहीं है। ऐसे प्रभु को देखने के बाद जगत् की कोई वस्तु, मुमुक्षु के चित्त को हर नहीं सकती, क्योंकि सर्वज्ञप्रभु की तुलना कर सके – ऐसी कोई वस्तु जगत् में है ही नहीं। समवसरण के मध्य विराजमान साक्षात् तीर्थङ्कर परमात्मा के दर्शनों का महाभाग्य तो महापुण्यवन्त को ही प्राप्त होता है; साधारण जीवों को उनकी अद्भुत शोभा का ख्याल नहीं आता। प्रभु के मुख पर अतीन्द्रिय सुख की छवि दिखती है, उसे देखकर मुमुक्षु को आत्मा का सुखस्वभाव प्रतीति में आ जाता है।

प्रभो! सूर्य-चन्द्रमा की उपमा से आपकी सच्ची पहचान नहीं हो सकती। सूर्य-चन्द्रमा में रहनेवाले ज्योतिषीदेव भी आपके सेवक हैं। ऊपर के इन्द्र, मध्य में मनुष्य और नीचे के नागेन्द्र – ऐसे तीन लोक के जीव आपको देखकर मुग्ध हो जाते हैं। बेचारे नारकी जीवों को तो आपके दर्शनों का सौभाग्य ही प्राप्त नहीं होता है।

अहा! आपकी मुद्रा की शान्ति, वीतरागता, गम्भीरता – ये सब अनुपम हैं... अद्भुत है। 'मेरे भगवान इतने सुन्दर...!' ऐसे भगवान का वर्णन करते भक्तजन थकते नहीं हैं। संसार में माता अपने पुत्र की प्रशंसा कर-करके राग का पोषण करती है, यहाँ धर्म में वीतरागदेव की प्रशंसा कर-करके भक्तजन अपनी वीतरागी भावना को बढ़ाते हैं। अहो प्रभो! आपके

निष्कलङ्क रूप को देखकर, ध्यान करने से हमारे आत्मा में से भी कलङ्क दूर हो जाता है।

हे देव! आपका मुख, चन्द्रमा के समान कलङ्कित नहीं है; आपकी नाक कोई तोते की चोंच जैसी टेढ़ी नहीं है; आपकी आँख कोई हिरनी की आँख जैसी भयभीत नहीं है, वह तो अन्तर्मुख स्थिर है; आपकी आवाज कोई कोयल जैसी नहीं है, उससे भी अत्यन्त मधुर है; आपकी मुखमुद्रा कमल के समान मुरझा नहीं जाती, सदैव प्रसन्न रहती है – इस प्रकार लोक के सर्व पदार्थों की उपमा को हर लेनेवाले आप, सर्वोत्तम –सर्वाङ्ग सुन्दर हो। जगत् के पदार्थों में किसी न किसी प्रकार का दोष होता है, जबकि आप तो सर्व प्रकार से दोषरहित, सर्व गुणसम्पन्न हो; इसलिए निरूपम, अर्थात् उपमारहित हो।

प्रभु के आत्मा में राग नहीं है और शरीर में रोग नहीं है। आत्मा में सबसे उत्तम केवलज्ञान दशा हो गयी है और शरीर में सबसे उत्तम परमौदारिक दशा हो गयी है – ऐसे दोनों प्रकार से, अर्थात् अन्तर और बाह्य में सर्वोत्कृष्टपना बताकर भगवान की स्तुति की है। ●●

काव्य : 14

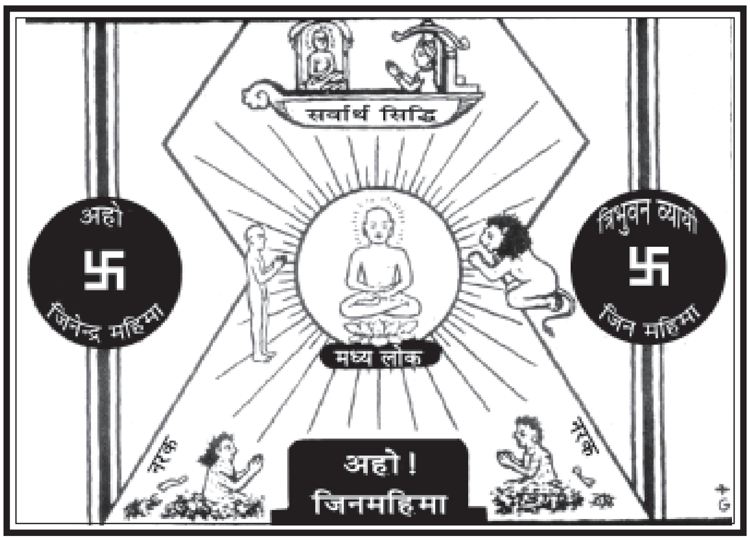

सम्पूर्ण-मण्डल-शशाङ्क कला-कलाप-
शुभ्रा गुणास्त्रि भुवनं तव लंघयन्ति।
ये संश्रितास्त्रिजगदीश्वर नाथमेकं,
कस्तान्निवारयति सञ्चरतो यथेष्टम्॥ १४॥

तव गुण पूर्ण-शशांक कान्तिमय, कला-कलापों से बढ़के।
तीन लोक में व्याप्य रहे हैं, जो कि स्वच्छता में चढ़के॥
विचरें चाहे जहाँ कि जिनको, जगन्नाथ का एकाधार।
कोन माई का जाया रखता, उन्हें रोकने का अधिकार॥ १४॥

काव्य - 14 पर प्रवचन

हे देव! पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान आपके उज्ज्वल गुण तीनों लोक में व्याप्त हो गये हैं अथवा तीन लोक के लाँघकर सिद्धलोक में पहुँच गये हैं। सत्य ही है, आपके जैसे परमात्मा को नाथरूप में स्वीकार करके जिसने उनका आश्रय किया, उसके गुणों को तीन लोक में सुखपूर्वक संचार करने से कौन रोक सकता है? प्रभो! हमारी साधकपरिणति ने भी आपके जैसे महापुरुष का, अर्थात् अन्तर में परमात्मभाव का आश्रय लिया है; इसलिए हमें अब मोक्ष में प्रवेश करने से कोई नहीं रोक सकता।

हे प्रभो! सर्वज्ञता, क्षायिकसम्यक्त्व, पूर्णानन्द इत्यादि गुणों ने आपका आश्रय लिया, जिससे तीन लोक में उनकी महिमा का विस्तार हो गया है। जैसे, बड़े राजा-महाराजा के दूत को राजदरबार में प्रवेश करने से कोई रोक नहीं सकता; वैसे ही साधकजीव कहते हैं कि हम सर्वज्ञ परमात्मा के दूत हैं, हमें इच्छानुसार मोक्षमार्ग में विचरण करने से कोई रोक नहीं सकता, क्योंकि हमने बड़ों का आश्रय लिया है।

प्रभो! हमें तो तीन लोक में सर्वत्र आपके गुण ही फैले हुए दिखायी देते हैं। दोष तो आपसे डरकर विचारे न जाने कहाँ भाग गये हैं? अहा प्रभो! आप की तो क्या बात! जहाँ आपका आश्रय लिया, वहाँ (हमारे) आत्मा में भी सभी गुण विकसित होने लगे हैं और दोष दूर होने लगे हैं – इस प्रकार साधकदशा वृद्धिङ्गत होने लगी है।

जब प्रभु का जन्म हुआ अथवा केवलज्ञान हुआ, तब तीन लोक में दिव्य प्रकाश व्याप्त हो गया और जीवों को साता हुई, तब आश्चर्यपूर्वक जिनमहिमा का चिन्तन करते हुए बहुत जीवों ने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया। इस प्रकार प्रभु के प्रताप से तीन लोक में गुणों का विस्तार होने लगा। प्रभु के गुणों की कीर्ति तो तीन लोक में व्याप्त होकर, अन्य जीवों में भी प्रभु के निमित्त से गुणों का विस्तार होने लगा। इस प्रकार भक्त को तीन लोक में प्रभु के गुण ही दिखायी देते हैं।

कोई कहे कि 'इसमें पराधीनता नहीं आती?'

— नहीं; क्योंकि भगवान का भक्त, भगवान के समान अपने आत्मा में भी गुणों की परिपूर्णता देखता है और उस पूर्णस्वभाव के आश्रय से उनकी साधना, अर्थात्, सम्यक्त्वादि गुणों में वृद्धि होती है। ऐसी स्वाश्रय की भावनापूर्वक यह भगवान का गुणगान है। भक्ति में तो 'भक्त की भाषा' होती है; इस कारण उसमें कोई पराधीनता की बुद्धि नहीं है, यह तो भगवान के प्रति विनय है।

हे नाथ! आपको केवलज्ञान होने पर आपके आनन्द की तो क्या बात! चौदह ब्रह्माण्ड में आनन्द की हिलोर आती है; देवताओं के दिव्यासन डगमगा उठते हैं और देवों के वादित्र स्वयमेव बजने लगते हैं, आकाश से रत्नवृष्टि होने लगती है। प्रभो! इन सब में हमें तो आपके गुणों का ही प्रभाव दिखायी देता है। आपके जैसी आश्चर्यकारी बाह्यलब्धि भी अन्य कुदेवों को नहीं हो सकती; अन्दर के गुणवैभव की तो बात क्या!

आपके केवलज्ञानादि अनन्त गुणों की महिमा जगत में प्रसिद्ध है, तीन लोक में क्या सत्पुरुष उन्हें नहीं जानते? यहाँ जब आपके मोक्षगमन की तैयारी होती है, तब दुनिया में आनन्द के बाजे बजते हैं.... सर्वत्र आह्लाद और प्रह्लाद फैल जाता है।

हे जिनेन्द्र! आपके गुणवैभव की कीर्ति के समक्ष इन्द्र या चक्रवर्ती का वैभव तथा कीर्ति भी तुच्छ लगते हैं। वे चक्रवर्ती और इन्द्र भी आपकी सेवा करते हैं और आपकी सेवा के फल से ही उन्हें इन्द्रपना और चक्रवर्तीपना मिला है; इसलिए वहाँ भी हमें तो आपके गुणों की ही महिमा दिखायी देती है। जगत् में ऐसा कोई स्थान नहीं है कि जहाँ आपके गुणों का गुणगान न होता हो। हम भी जहाँ जाएँगे, वहाँ आपके गुणों के ही गीत गायेंगे और गाते-गाते मोक्ष में आयेंगे। हमारे पास दोष का नामो-निशान भी नहीं रहेगा। देखो, वीतराग के भक्त की अन्दर की पुकार! प्रभो! हम सर्व गुणसम्पन्न आपके उपासक बन गये.... अब हमारे में कोई दोष कैसे रह सकता है? हमारे गुणों के विस्तार को रोकने के लिए जगत् में कोई समर्थ नहीं है।

ज्ञानी के अतिरिक्त ऐसी अद्भुत गुणभक्ति दूसरा कोई नहीं कर सकता और सर्वज्ञ भगवान के अतिरिक्त दूसरा कोई झेल नहीं सकता। जो भगवान के गुणों को और उनके समान निजात्मस्वभाव को नहीं पहचानता, वह उनकी स्तुति या उपासना कैसे कर सकता है? और जो स्वयं मोही-अज्ञानी होता है, वह ज्ञानी की वीतरागभक्ति कैसे झेल सकता है? इसलिए वास्तव में ज्ञानस्वभाव की अनुभूतिरूप सम्यग्दर्शन और

आत्मज्ञान ही सर्वज्ञ भगवान की सबसे पहली स्तुति है। ऐसी भावस्तुति करनेवाले को शास्त्र में 'जिन' कहा है।

अरे जीव! भगवान आत्मा का ऐसा गुणगान करना तो सीख! उसकी महिमा तो कर! तो तेरे भव का अन्त आ जाएगा और तू मोक्षपुरी के मार्ग में आ जाएगा। संसार में सर्वोत्कृष्ट सर्वार्थसिद्धि का भव करनेवाले सम्यग्दृष्टि देव और उसी भव से मोक्ष प्राप्त करनेवाले मध्यलोक के मुनिवर, या नीचे सातवें नरक में रहनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव – ये धर्मात्मा भी परमात्मा का गुणगान करते हैं।

तीव्र मिथ्यादृष्टि जीव तो परमात्मा को पहचानता ही नहीं, उसकी क्या गिनती? दृष्टिवान जीवों को तो सर्वत्र भगवान के गुणों की महिमा दिखायी देती है, अन्धे (दृष्टिहीन) जीवों को नहीं दिखायी दे तो उसका क्या करें? दृष्टिहीन को तो पैर के पास निधान हो तो भी दिखायी नहीं पड़ता।

प्रभो! आपको देखते ही हमारी तो अन्तरदृष्टि खुल गयी है, हमें अन्तर में चैतन्यनिधान दिखायी देने लगा है। अब, उस निधान को प्राप्त करने से हमें कोई रोक नहीं सकता। हम आपके नन्दन हुए, वारिस हुए, सर्वज्ञपद के युवराज हुए; अब मोक्षपद प्राप्त करने में क्या बिलम्ब! इस प्रकार साधक को अपने मोक्ष की निःशङ्कता हो गयी है। सर्वज्ञपद की सत्ता का निश्चय हुआ, तब स्वयं में वह पद दिखने लगा। उस सर्वज्ञस्वभाव के आश्रय से मैं भी सर्वज्ञ हो जाऊँगा और मेरे ज्ञान का विस्तार भी तीन लोक में व्याप्त जाएगा – ऐसी निःशङ्कतापूर्वक साधक जीव, मोक्ष को साधते-साधते यह भक्ति करते हैं। ●●

काव्य : 15

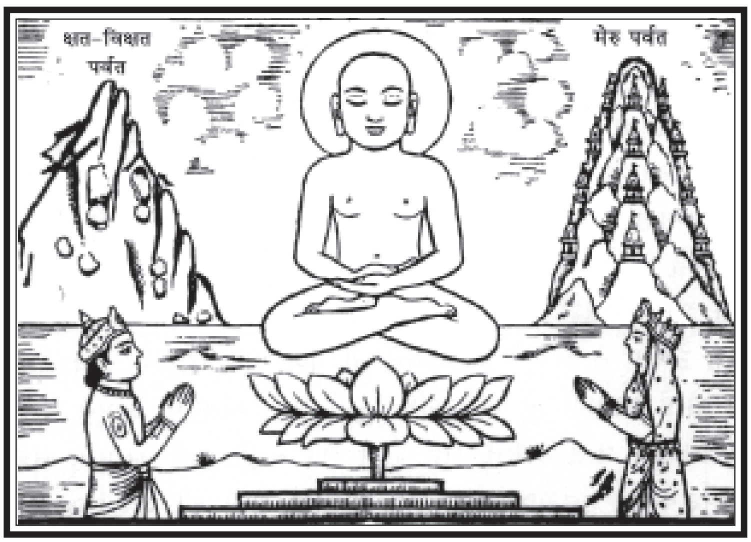

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभि,
नींतं मनागपि मनो न विकारमार्गम्।
कल्पान्त कालमरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित्॥ १५॥

मद की छकीं अमर ललनाएँ, प्रभु के मन में तनिक विकार।
कर न सकीं आश्चर्य कौन सा, रह जाती हैं मन को मार॥
गिरि-गिर जाते प्रलय पवन से, तो फिर क्या वह मेरु शिखर।
हिल सकता है रंचमात्र भी, पाकर झंझावात प्रखर॥ १५॥

काव्य - 15 पर प्रवचन

हे वीतराग प्रभो! स्वर्ग की देवाङ्गनाएँ आपके चित्त में रञ्चमात्र भी विकार उत्पन्न नहीं कर सकी – परन्तु इसमें क्या आश्चर्य है? शंकर, विष्णु आदि अन्य देव तो साधारण स्त्रियों में भी मोहित हो गये, जबकि आप तो इन्द्राणी को देखकर भी मोहित नहीं हुए, परन्तु आपकी सुमेरुपर्वत जैसी महानता देखकर यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि आप तो सम्पूर्ण वीतराग हो। सामान्य पर्वत को उखाड़ देनेवाली प्रलयकाल की पवन, क्या सुमेरुपर्वत के शिखर को डगमगा सकती है? – कभी नहीं।

भगवान ऋषभदेव की राज्यसभा में स्वर्ग की देवियाँ भक्तिपूर्वक नृत्य करती थी, उन देवाङ्गनाओं के हाव-भाव में प्रभु मोहित तो नहीं हुए, अपितु निलांजनादेवी की मृत्यु द्वारा संयोग की क्षणभङ्गुरता का चिन्तवन कर संसार से विरक्त हो गये। इस वैराग्य के प्रसङ्ग को याद करके कहते हैं –

हे प्रभो! देवलोक की अप्सराओं से आप मोहित नहीं हुए – इसमें हमें कोई आश्चर्य नहीं लगता, क्योंकि आपके मार्ग में अतीन्द्रिय सुख का आस्वादन करनेवाले हमारे जैसे साधक भी स्वर्ग के वैभव में सुख नहीं मानते, उसमें मूर्च्छित नहीं होते तो फिर आप तो पूर्व वीतराग हैं, आपकी निर्विकारता की तो क्या बात! आपके चित्त में जरा-सा भी विकार नहीं हो – यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अन्य कुदेव तो स्त्री आदि में मोहित हुए हैं अथवा शत्रु के प्रति क्रोध करके उसका हनन करते हैं, परन्तु आप तो सर्वज्ञ-वीतराग हो, आपको कभी

रञ्चमात्र भी राग–द्वेष नहीं होता। आप न तो भक्त के प्रति राग करते हो, न दुश्मन के प्रति द्वेष करते हो। – ऐसी वीतरागता जगत् में एकमात्र आपको ही शोभायमान है।

पञ्चम काल के अन्त में प्रलयकाल आयेगा, तब ऐसा घनघोर तूफान आयेगा कि हिमालय आदि बड़े–बड़े पर्वत बिखरकर उड़ जाएँगे, परन्तु सुमेरुपर्वत रञ्चमात्र भी नहीं डगमगायेगा, वह तो शाश्वत् ऐसा का ऐसा ही स्थिर रहेगा। इसी प्रकार जगत् के तुच्छ देव जहाँ राग–द्वेष से डगमगा जाते हैं, वहाँ हे जिनदेव! आप वीतरागभाव में सुमेरुपर्वत के समान निश्चल (अचल) रहते हो। समवसरण की दिव्यविभूति भी आपको राग उत्पन्न नहीं करा सकती। ऐसी वीतरागता, जगत् में एकमात्र आप में ही है, अन्य किसी में नहीं।

हम रहते हैं, वह भरतक्षेत्र, जम्बूद्वीप में है; सीमन्धर परमात्मा विराजमान है, वह विदेहक्षेत्र भी इस जम्बूद्वीप में ही है। जम्बूद्वीप एक लाख महायोजन का गोलाकार है; उसके बीच में शाश्वत् सुमेरुपर्वत है और उसके ऊपर शाश्वत् जिनालय विराजमान है। प्रलयकाल की पवन के बीच भी वह सुमेरुपर्वत ऐसा का ऐसा अचल रहता है। इसी प्रकार भरतक्षेत्र का सम्मेदशिखर निर्वाणस्थान भी शाश्वत् है। अभी उस पर पृथ्वी पर नवीन परत चढ़ गयी है, वह प्रलयकाल में उड़ जाएगी और स्फटिक जैसी असली चित्रापृथ्वी प्रगट हो जाएगी। उस चित्रापृथ्वी के उभरे हुए भागरूप सम्मेदशिखर पर्वत और उस पर स्वस्तिक (साथिया) है, वह शाश्वत् है।

यहाँ तो सुमेरु की उपमा देकर कहते हैं कि हे नाथ! आपका

चित्त भी सुमेरुपर्वत के समान स्थिर है; देवलोक की अप्सराएँ या जगत के किसी पदार्थ से उसमें रञ्चमात्र भी विकार-राग-द्वेष नहीं होते। अहा! ऐसी वीतरागता आपके अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं है और आपके वीतरागमार्ग में लगे हुए हमारे चित्त को भी मार्ग से कोई विचलित नहीं कर सकता, अर्थात् वह अब विषयों में लीन नहीं होता। इसमें यह भी आ गया है कि जिनका चित्त विषयों में लीन होता है, वे जीव, वीतराग परमात्मा की सच्ची भक्ति नहीं कर सकते हैं।

देखो, इस भक्तामर-स्तोत्र के भावों का रहस्य उद्घाटित होता है। **भक्त-अमर,** अर्थात् भक्तिवन्त देव; वे भी देवलोक के वैभव को तुच्छ जानकर सर्वज्ञ परमात्मा की स्तुति करते हैं और उसमें वीतरागता की ही भावना भाते हैं। स्तोत्र के ऐसे भावों को न समझनेवाले जीव, दीन होकर पैसा, निरोगता आदि लौकिक आशा से भक्तामर-स्तोत्र बोलते हैं, उन्हें भगवान की वास्तविक स्तुति का भाव नहीं है।

अहा! यह तो वीतराग परमात्मा के गुणों की स्तुति है! इसमें वीतरागी गुणों के अतिरिक्त अन्य भावना कैसे होगी? ऐसी भावनासहित भगवान की भक्ति करनेवाले के बाद में जो दो-चार भव होते हैं, वे दीनतावाले नहीं होते; आराधनासहित उत्तम पुण्यफलवाले होते हैं और वहाँ स्वर्गादि में अप्सरा आदि दिव्य-वैभव के बीच भी आत्मा की आराधना को विस्मृत किये बिना, सम्यक्त्वपूर्वक सुमेरु के समान अकम्पायमान रहकर अनुक्रम से मोक्षपद को साधते हैं, प्राप्त करते हैं।

— यह है परमात्मा की परमार्थ भक्ति का फल! ●●

काव्य : 16

निर्धूम-वर्तिरपवर्जित-तैलपूरः
कृत्स्नं जागत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ! जगत्प्रकाशः॥ १६॥

धूप न बत्ती तेल बिना ही, प्रकट दिखाते तीनों लोक।
गिरी के शिखर उड़ानेवाली, बुझा न सकती मारुत झोक॥
तिस पर सदा प्रकाशित रहते, गिनते नहीं कभी दिन-रात।
ऐसे अनुपम आप दीप हैं, स्व-पर प्रकाशक जग विख्यात॥ १६॥

काव्य - 16 पर प्रवचन

हे नाथ! केवलज्ञान के कारण आप ऐसे अद्वितीय जगत्प्रकाशी दीपक हो कि जिसे धुआँ या बात्ती नहीं है, जिसमें तेल नहीं भरना पड़ता। पर्वतों को हिला देनेवाली झंझावात पवन से भी यह दीपक नहीं बुझता और एक साथ तीनों लोक को प्रकाशित करता है।

तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो।
भूदो सयमेवादा हवदि सयंभु त्ति णिद्दिट्ठो॥

(- प्रवचनसार, गाथा 16)

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने भी सर्वज्ञपद की महिमारूप स्तुति की है।

देखो, यह सर्वज्ञ भगवान के केवलज्ञानरूपी दीपक की स्तुति! जगत् में तेल-घी के दीपक को तो रूई की बत्ती का अवलम्बन चाहिए और उसमें से धुआँ निकलता है; इसी प्रकार इन्द्रियज्ञानवाले जीवों में तो मोहरूपी धुआँ होता है और पाँच इन्द्रियोंरूपी बत्ती का अवलम्बन चाहिए, परन्तु हे देव! स्वयंभू – ऐसे आपके केवलज्ञानरूपी दीपक को किसी इन्द्रियोंरूप बत्ती का अवलम्बन नहीं है और उसमें राग-द्वेषरूपी कालिमा नहीं है।

● लौकिक दीपक में तो तेल भरना पड़ता है, परन्तु आपका केवलज्ञानरूपी दीपक तो आत्मा में से प्रगट हुआ 'स्वयंभू' है, उसमें तेल नहीं भरना पड़ता।

● लौकिक दीपक तो पवन के झोंके से बुझ जाता है, परन्तु

आपका केवलज्ञानरूपी दीपक तो कैसे भी उपसर्ग–परीषह की पवन के मध्य भी कभी नहीं बुझता।

● लौकिक दीपक तो अपनी मर्यादापूर्वक थोड़े से रूपी पदार्थों को ही प्रकाशित करता है, जबकि आपका केवलज्ञानरूपी दीपक तो एक साथ तीन लोक के रूपी–अरूपी समस्त पदार्थों को प्रकाशित करता है।

प्रभो! आपके ऐसे केवलज्ञान को प्रतीति में लेते ही; अर्थात्, राग से भिन्न अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभाव को वेदन में लेते ही हमारे अन्तर में स्वानुभूति का जो अतीन्द्रिय श्रुतज्ञानरूपी दीपक प्रगट हुआ है, वह भी परीषहों के पवन से कभी नहीं बुझेगा और कषायों की कालिमा से भिन्न ही रहकर वृद्धिगत होते–होते केवलज्ञान तक पहुँचेगा। इस प्रकार साधक को सर्वज्ञ के साथ अपने ज्ञान–दीपक में भी निःशंकता है। अकेले इन्द्रियज्ञान से या राग–द्वेष से मलिन ज्ञान द्वारा केवलज्ञानरूपी दीपक की श्रद्धा या स्तुति नहीं हो सकती है।

अहो देव! आपके आत्मा में असंख्य प्रदेशों से अनन्त चैतन्यदीपक प्रगट हुए हैं, वे आनन्द–प्रकाश से भरपूर हैं और उनमें कषायों का धुआँ नहीं है। 'दीपक से दीपक प्रगट होता है', वैसे ही आपके केवलज्ञान की प्रतीति से प्रगट हुआ हमारा सम्यग्ज्ञानरूपी दीपक भले ही छोटा है, परन्तु उसकी जाति तो आपके केवलज्ञान जैसी है, उसमें भी अतीन्द्रिय आनन्द है और कषाय नहीं है; इन्द्रियज्ञान का दीपक तो बुझ जाएगा, अतीन्द्रियज्ञान का दीपक कभी नहीं बुझेगा।

कितने ही लोग कहते हैं कि विकाररूप धुएँ का नाश करने के लिए ज्ञानदीपक को बुझा डालो! – वस्तुतः ऐसा कहनेवाले मूर्ख जीवों को विकार से भिन्न ज्ञानस्वभाव का पता नहीं है। कितने ही नास्तिकमति ऐसा भी मानते हैं कि मोक्ष में ज्ञान का अस्तित्त्व नहीं रहता। – अरे मूढ़! तो क्या मोक्ष प्राप्त करनेवाला आत्मा जड़ / अचेतन हो गया? – नहीं; यदि ज्ञान का नाश हो जाता हो तो आत्मा का भी नाश हो जाएगा – फिर तो ऐसे मोक्ष की इच्छा कौन करेगा?

हे नाथ! मोक्ष में भी आपका अद्भुत केवलज्ञानरूपी दीपक, इन्द्रियरहित और राग-द्वेषरहित जगमगा रहा है। इन्द्रियाँ छूट जाएँ तो भी वह बुझता नहीं है; उसमें रागरूपी तेल की चिकनाहट नहीं है। साधारण लोग तो बिजली के हजारों-लाखों दीपक की जगमगाहट देखते हैं, तब आश्चर्य करते हैं, परन्तु तेल के बिना जलनेवाले अद्भुत केवलज्ञानरूपी दीपक को तो ज्ञानीजन ही पहचानते हैं। इस अतीन्द्रिय दीपक की तो जाति ही अलग है! जगत् के अन्य सभी दीपक; अरे! सूर्य-चन्द्रमा भी उसके सामने तुच्छ लगते हैं।

किसी भी बाह्य साधन के बिना प्रभु को स्वयंभूपने केवलज्ञानरूपी दीपक प्रगट हुआ है। लोहे की दीवार भी इस दीपक के तेज / प्रकाश को नहीं रोक सकती; कोई पदार्थ उससे गुप्त नहीं रहता। अहा! जगत् में जिसकी अन्य कोई तुलना नहीं है – ऐसा बेजोड़ केवलज्ञानरूपी दीपक शाश्वतरूप से प्रभु के आत्मा में जगमगा रहा है। ऐसा कहकर, इन्द्रियों और

कषायों से भिन्न ज्ञानस्वभाव की प्रतीतिपूर्वक, सर्वज्ञ भगवान की स्तुति की गयी है।

अहा प्रभो! आपकी ऐसी स्तुति करते हुए हमें भी मिथ्यात्वरूपी अन्धकार का नाश होकर सम्यग्ज्ञान का अलौकिक दीपक प्रगट हुआ है, जो कभी बुझनेवाला नहीं है।

●●

स्वभाव की निरपेक्षता

हे प्रभु ! अन्य देव पापसहित हों, अथवा पापरहित; उनके दोष-वर्णन से आपकी गुणयुक्तता नहीं है। आप तो स्वभाव से ही महिमायोग्य हैं। सागर की विशालता -अगाधता स्वभाव से ही है, न कि तालाब एवं कुआँ की लघुता वर्णन के कारण। सागर तो स्वभाव से ही विशाल एवं अगाध है।

हे भगवान ! हम दूसरों के दोष बतलाकर, आपके गुण सिद्ध नहीं करना चाहते; क्योंकि आप तो सभी से निरपेक्ष हैं। जब विकारी पर्याय का होना भी निरपेक्ष है, तब स्वभाव की निरपेक्षता का तो कहना ही क्या ?

- विषापहार प्रवचन, पृष्ठ-40

काव्य : 17

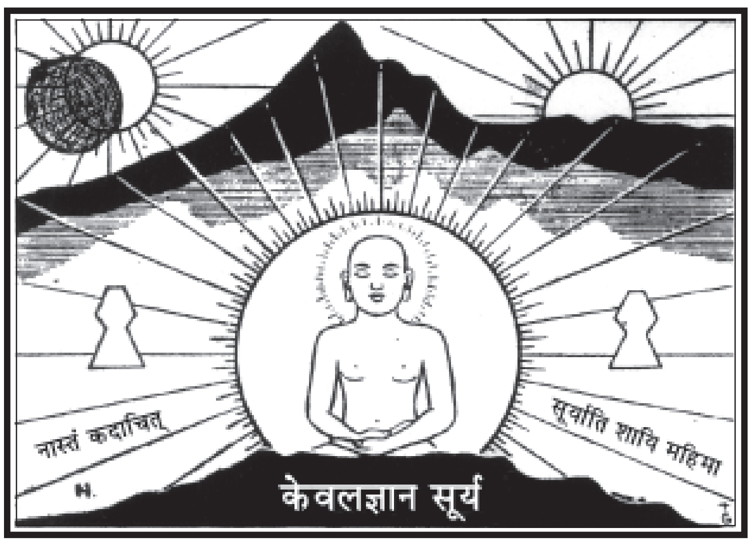

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहु गम्यः,
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति।
नाम्भो-धरोदर निरुद्ध-महा प्रभावः
सूर्याति शायि-महिमासि मुनीन्द्र! लोके ॥ १७॥

अस्त न होता कभी न जिसको, ग्रस पाता है राहु प्रबल।
एक साथ बतलानेवाला, तीन लोक का ज्ञान विमल॥
रुकता कभी प्रभाव न जिसका, बादल की आ करके ओट।
ऐसी गौरव-गरिमावाले, आप अपूर्व दिवाकर कोट॥ १७॥

काव्य - 17 पर प्रवचन

प्रभो! आप सूर्य जैसे नहीं, अपितु उसकी अपेक्षा भी अधिक महिमावन्त हो। सूर्य तो अस्त हो जाता है परन्तु आपका ज्ञान कभी अस्त नहीं होता; राहू कभी आपको घेर नहीं सकता; सूर्य के समान मात्र दिन में ही और पृथ्वी के थोड़े से भाग को नहीं, अपितु एकसाथ समस्त जगत् को आप निरन्तर प्रकाशित करते हो और घनघोर बादल भी आपके ज्ञानप्रकाश को रोक नहीं सकते – इस प्रकार हे मुनीन्द्र! सूर्य की अपेक्षा भी आपका अतिशय महान है।

देखो, भगवान के भक्त को जगत् की कोई वस्तु परमात्मा से अधिक नहीं लगती। श्लोक 13 में कहा है कि प्रभु को चन्द्रमा की उपमा लागू नहीं पड़ती; फिर दीपक की उपमा लागू नहीं पड़ती – ऐसा श्लोक 16 में कहा और श्लोक 17 में कहते हैं कि हे देव! आपको सूर्य की उपमा भी लागू नहीं पड़ती।

आपका केवलज्ञान, चन्द्रमा या दीपक, इन सब से पार कोई अदभुत, आश्चर्यकारी है। सूर्य तो जगत् को आताप करनेवाला है, परन्तु हे ज्ञानसूर्य! आपका ज्ञान तेज तो जगत् को अपूर्व शान्ति देनेवाला और आताप हरनेवाला है। आपके ज्ञानसूर्य का उदय हुआ, वह कभी अस्त होनेवाला नहीं है; किसी कर्म का बादल, अब उसके दिव्य प्रकाश को आच्छादित नहीं कर सकता है। ज्ञान-दर्शन के आवरणरूपी बादल को आपने सर्वथा छिन्न-भिन्न कर डाला है। सूर्य के प्रकाश को

तो पटल आदि रोकते हैं परन्तु आपके ज्ञानप्रकाश को लोहे की दीवार भी नहीं रोक सकती है – आप ऐसे अद्वितीय ज्ञानभानु / ज्ञानसूर्य हो।

इस जम्बूद्वीप में दो सूर्य और दो चन्द्रमा हैं परन्तु वे एक जम्बूद्वीप को भी सम्पूर्ण प्रकाशित नहीं कर सकते हैं, जबकि सर्वज्ञप्रभु का केवलज्ञान तो एकसाथ जगत् के सभी पदार्थों को प्रकाशित करता है। गहरी गुफा आदि में या जीव के अरूपी भावों में तो सूर्य का प्रकाश पहुँचता ही नहीं, परन्तु जगत् में ऐसा कोई स्थान या क्षेत्र नहीं है, जहाँ प्रभु के ज्ञानसूर्य का प्रकाश न पहुँचता हो। हे नाथ! ऐसा दिव्य ज्ञानप्रकाश आपके अतिरिक्त अन्य किसका है? और आपके ऐसे ज्ञानप्रकाश की प्रतीति करने की सामर्थ्य हमारे जैसे जिनभक्त के अतिरिक्त अन्य किसमें हैं? – 'अहो, यह ज्ञान की महिमा!'

इस स्तोत्र में स्तुति तो ऋषभदेव की है, परन्तु जिनमें ऐसा दिव्यज्ञान हो, उन सभी सर्वज्ञ भगवन्तों की गुणस्तुति इसमें समा जाती है। ऐसे गुणवाले अनन्त तीर्थङ्कर, अरिहन्त हो गये हैं और अनन्त होंगे। अभी भी विदेहक्षेत्र में ऐसे लाखों सर्वज्ञ भगवन्त विचरण कर रहे हैं। प्रभु की प्रभुता को पहचानकर, जीव को सम्यक्त्व और भेदज्ञान हो जाता है। जो भगवान जैसे ज्ञानानन्दस्वभाव की प्रतीति और प्रीति करता है, वह जीव, भगवान का भक्त हो सकता है। सर्वज्ञ स्वभाव की प्रीति / प्रतीति करने से इन्द्रियों-राग या संयोगों की प्रीति छूट जाती है, जिससे उस जीव को परमार्थ से जितेन्द्रिय कहा जाता है।

समयसार गाथा – 31 में कहा है कि —

जो इन्द्रियों को जीत जाने ज्ञानमय निज आतमा।
वे हैं जितेन्द्रिय जिन कहें परमार्थ साधक आतमा॥

साधक कहता है : हे जगत् के अद्वितीय सूर्य! आप ही हमारे नेता और पिता हो, हम आपके बालक है और भक्ति करते-करते आपके मार्ग पर चल रहे हैं। हमने अपने अन्तर में ऐसी दृढ़ भक्ति से आपको वसा लिया है कि उससे अब संसार का भय नहीं है? 'जहाँ भगवान वसते हैं, वहाँ कैसे भव और कैसा भय?'

आकाश में जो सूर्यबिम्ब दिखायी देता है, वह तो अचेतन प्रकाश का पुञ्ज है; और हे भगवान! आप तो चैतन्यप्रकाशी सूर्य हो; सूर्य गरम है, आप शान्त हो, '**चन्देषु निम्मलयरा...... आइच्चेसु अहियं पयासकरा**' लोग्गस-सूत्र द्वारा स्तुति करते हुए कहते हैं कि 24 तीर्थङ्कर-केवली भगवन्त, चन्द्रमा की अपेक्षा भी अधिक निर्मल है और आदित्य-सूर्य की अपेक्षा भी अधिक प्रकाश करनेवाले हैं। अरे, तीर्थङ्करों का शरीर भी चन्द्र-सूर्य की अपेक्षा अधिक उज्ज्वल और तेजस्वी होता है, तो केवलज्ञान की शोभा की तो क्या बात!

प्रभो! आपको ऐसा पूर्ण केवलज्ञान सूर्य उदित हुआ है और मुझे अभी उसका प्रभात है.... परन्तु प्रभात के बाद अल्प काल में पूर्ण सूर्य उदित होना ही है और उसकी तत्परतापूर्वक हम आपके गीत गाते हैं। यह सूर्य तो दिन में उदित होकर शाम को अस्त हो जाता है, जबकि आपका उदित केवलज्ञान

सूर्य कभी अस्त नहीं होता; उस पर कर्म का आवरणरूप कोई ग्रहण नहीं है। पूर्णिमा को चन्द्रमा के प्रकाश को तथा अमावस्या को सूर्य के प्रकाश को राहु आड़े आता है; इसलिए ग्रहण होता है, परन्तु प्रभु ने तो ज्ञानावरणरूप राहु को नष्ट कर दिया है; इसलिए प्रभु के ज्ञान में अब कोई ग्रहण नहीं है और प्रभु की प्रतीतिवाले भक्त को कोई राहु अवरोधक नहीं है, वह तो आनन्दपूर्वक मोक्ष को साधता है।

आज जो सूर्य यहाँ दिखायी देता है, वह कल नहीं आता; कल दूसरा सूर्य आयेगा; कल का सूर्य आज ऐरावतक्षेत्र में प्रकाशित होगा और कल जो ऐरावत में था, वह सूर्य आज यहाँ आया है, परन्तु हे नाथ! आप तो भरत, ऐरावत या विदेह सभी क्षेत्रों को एकसाथ प्रकाशित करनेवाले हो; इसलिए आप ही जगत् के अद्वितीय सूर्य हो। ऐसी भक्ति करनेवाले जीव को भविष्य में साक्षात् भगवान के दर्शन होंगे और वह स्वयं भगवान बन जाएगा। ●●

काव्य : 18

नित्योदयं दलित-मोह-महान्धकारं,
गम्यं न राहुवदनस्य व वारिदानाम्।
विभ्राजते त मुखाब्जमनल्पकान्ति,
विद्योतयज्ज गद पूर्व-शशाङ्क-बिम्बम्॥ १८॥

मोह महातम दलनेवाला, सदा उदित रहनेवाला।
राहु न बादल से दबता पर, सदा स्वच्छ रहनेवाला॥
विश्व-प्रकाशक मुखसरोज तव, अधिक कान्तिमय शान्तिस्वरूप।
है अपूर्व जग का शशि-मण्डल, जगत शिरोमणि शिव का भूप॥ १८॥

काव्य - 18 पर प्रवचन

हे प्रभो! मैं आपको चन्द्रमा जैसा कहूँ? नहीं! आप तो उससे भी विशेष हो। आप सदा काल उदयरूप हो; राहु या बादल, चन्द्रमा के समान आपको घेर नहीं सकते; आपका उदय मोह-अन्धकार को दूर करनेवाला है। कोई अपूर्व कान्ति से शोभित आपका मुखमण्डल, जगत् में अपूर्व उद्योत करनेवाला है। 13 वें श्लोक में भी यह बात की थी कि हे देव! आपके दिव्य तेज के समक्ष चन्द्रमा का तेज भी फीका पड़ जाता है। उस चन्द्रमा में मोहरूपी अन्धकार को दूर करने की ताकत नहीं है, अपितु वह तो रात्रि में जीवों को मोह में (निद्रा में) डालता है; जबकि आपकी वाणी की किरणें तो हमें मोहरूपी निद्रा से जगाती है और हमारे अज्ञानरूपी अन्धकार को भगाती हैं। जिसके अन्तर में आपकी ज्ञान किरणों का प्रवेश होता है, उसकी आत्मा में उजाला हो जाता है और कर्म के बादल बिखर जाते हैं – ऐसे अद्वितीय चन्द्र, हे सर्वज्ञ! आप ही हो। चन्द्रमा की अपेक्षा भी आपमें विशेषता है।

देखो तो सही, वीतराग भगवन्त की यह भक्ति! भक्त, जहाँ देखो वहाँ भगवान की महिमा ही देखता है; आकाश में सूर्य-चन्द्रमा देखते हुए भी उसे सर्वज्ञ भगवान याद आते हैं। अन्दर में भगवान को देखता है और बाहर में भी भगवान को ही देखता है। भगवान की भक्ति के रंग में संसार को भूल जाता है। उसे राग या स्वर्ग तो याद ही नहीं आता। बस, अन्दर में केवलज्ञान और भगवानपना ही निरन्तर चलता रहता है। थोड़ा-सा राग होने पर भी वीतरागभाव की ओर का जोर

उछलता है – इसका नाम वीतरागी भक्ति है।

अरे, लोग भगवान को पहचानते नहीं हैं। जिनके हाथ में हथियार या सङ्ग में स्त्री होती है, जो खाते-पीते हैं, जिन्हें राग या रोग होता है, वे भगवान नहीं हैं; भगवान तो परमशान्त-वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं; जिनके स्त्री नहीं, राग नहीं, हथियार नहीं, क्षुधा-तृषा या रोग नहीं है – ऐसे भगवान को पहचाने तो अन्दर में भगवान आत्मा की पहचान होती है। जो भगवान को पहचानने में भी भूल करता है, वह आत्मा का सच्चा स्वरूप नहीं पहचान सकता।

अरे! दुनिया को कहाँ खबर है कि भगवान कैसे होते हैं! उन्हें तो उनके भक्त... साधक धर्मात्मा ही पहचानते हैं। एक उत्तम राजा भी पुण्यप्रकृति से कैसा सुशोभित होता है! तो यह तो तीन लोक के धर्मराजा तीर्थङ्कर.... उनके अन्तर में सर्वज्ञता का अतीन्द्रिय वैभव और बाहर में धर्मसभा का दिव्य वैभव, उनकी महिमा की क्या बात! जहाँ ऊपर से विमान में इन्द्र उतरते हैं और प्रभु-चरण में झुकते हैं; सिंह-बाघ जैसे तिर्यञ्च, शान्त होकर प्रभु के मुख को देखते हैं; मुनिराज, प्रभु की भक्ति करते हैं; रत्नों की वृष्टि होती है; अनेक जीव, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त करते हैं – साधारण पुण्यवाले जीवों को ऐसी बात देखने-सुनने को कहाँ से मिलेगी?

भगवान की ऐसी अचिन्त्य महिमा जिसके अन्तर में हो, उसके महासद्भाग्य की क्या बात! वह तो मानो मोक्ष के दरबार में आया है।

एक बार आहारदान प्रसङ्ग की रत्नवृष्टि आदि में किसी ने शङ्का की, तब श्रीमद्राजचन्द्रजी ने कहा – अरे भाई! आत्मा की अचिन्त्य शक्ति की महिमा के सामने रत्नवृष्टि की क्या बात है! परमात्मवैभव के सामने पुण्यवैभव का क्या आश्चर्य! चैतन्य की पूर्ण पवित्रता प्रगट हुई, उसके साथ का पुण्य भी जगत् के लिए आश्चर्यकारी है और धर्मी तो उसमें भी चैतन्यतत्त्व की महिमा को ही देखता है। जहाँ तीर्थङ्कर का जन्म होनेवाला होता है, वहाँ 15 महीने तक प्रतिदिन करोड़ों अद्भुत रत्नों की वृष्टि होती है। यहाँ आत्मा, परमात्मा होने लगा, वहाँ परमाणु भी पलटकर रत्नोंरूप परिणमन करने लगे। देखो तो सही... धर्म के साथ के सत्पुण्योदय का अचिन्त्य प्रभाव!

हे देव! लोक में तेजस्वी माने जानेवाले सूर्य-चन्द्रमा भी आपके मुखमण्डल की प्रभा के सामने तो फीके लगते हैं; इसी प्रकार अतीन्द्रिय चैतन्यभाव के सामने इन्द्रियभाव, चेतनाहीन लगते हैं – इस प्रकार भगवान को देखकर भव्यजीव भेदज्ञान करते हैं।

हे देव! चन्द्रमा के उदय से तो (सूर्यमुखी) कमल संकुचित हो जाता है, जबकि आपके मुखचन्द्र के दर्शन से तो भव्यकमल खिल उठते हैं। चन्द्रमा तो सोलह कलाओं से खिलने के बाद फिर संकुचित होने लगता है, जबकि आपको जो पूर्ण केवलज्ञानरूपी कला खिली है, वह कभी संकुचित नहीं होती और आपकी भक्ति से हमें साधकभावरूप जो सम्यग्ज्ञानकला खिली है, वह अब संकुचित नहीं होगी; वृद्धिङ्गत होकर पूर्ण होगी और आपके जैसा परमात्मपद प्राप्त करेगी। ●●

काव्य : 19

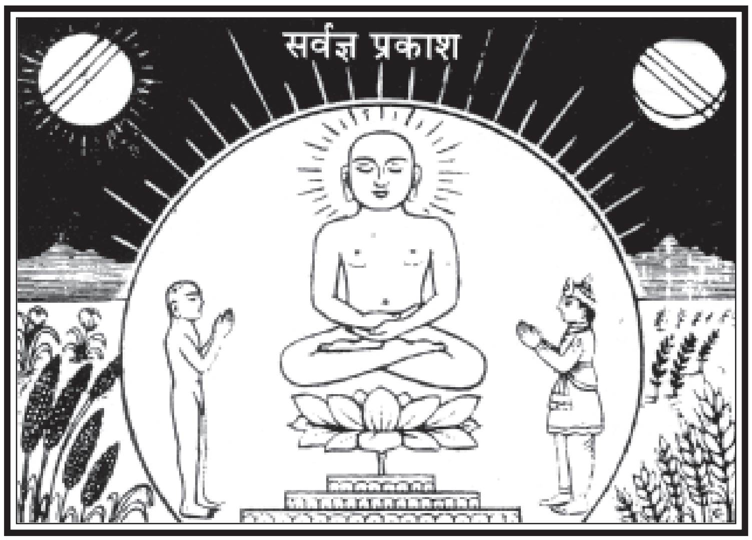

किं शर्वरीषु शशिनाऽह्नि विवस्वता वा?
युष्मन्मुखेन्दु-दलितेषु तमस्सु नाथ!
निष्पन्न-शालिवनशालिनि जीव-लोके,
कार्यं कियज्जल धरै र्जल-भार-नम्रैः॥ १९॥

नाथ आपका मुख जब करता, अन्धकार का सत्यानाश।
तब दिन में रवि और रात्रि में, चन्द्र-बिम्ब का विफल प्रयास॥
धान्य-खेत जब धरती तल के पके हुए हों अति अभिराम।
शोर मचाते जल को लादे, हुए घनों से तब क्या काम॥ १९॥

काव्य - 19 पर प्रवचन

हे परमदेव! जहाँ आप विराजमान हो, उस धर्मदरबार में (समवसरण में) आपके दिव्य मुख की ऐसी प्रभा फैल जाती है कि रात-दिन का भेद नहीं रहता। इस प्रकार आपके मुख की प्रभा से ही जहाँ अन्धकार दूर हो जाता है तो फिर वहाँ रात्रि के चन्द्रमा या दिन के सूर्य का क्या काम है? जिस खेत में चावल आदि अनाज पक गया है, वहाँ अब जलसहित बादलों का क्या काम है?

हे देव! आपके अतीन्द्रिय ज्ञानतेज के सामने इन्द्रियज्ञान तो एकदम फीका पड़ गया है। जहाँ अतीन्द्रियज्ञान विकसित हो गया, वहाँ इन्द्रियों का क्या काम है? स्वानुभूति में साधक का ज्ञान भी इन्द्रियों से पार रहकर काम करता है। तीर्थङ्कर प्रभु की मुद्रा का तेज भी ऐसा अद्‌भुत होता है कि सूर्य-चन्द्रमा का तेज भी उसके सामने आच्छादित हो जाता है।

भगवान ऋषभदेव के जन्म से पहले इस भरतक्षेत्र में (तीसरे काल में) भोगभूमि थी और कल्पवृक्ष थे, उन कल्पवृक्षों में ऐसा तेज था कि उसके सामने सूर्य-चन्द्रमा दिखायी नहीं देते थे; फिर जब कल्पवृक्ष का तेज फीका पड़ने लगा, तब सूर्य-चन्द्रमा दिखायी देने लगे। पहली बार उन्हें देखकर भोले जीव कहने लगे – अरे, आकाश में दो तेजस्वी गोले किसके हैं? कहाँ से आये हैं? तब कुलकर ने समझाया कि ये तो सूर्य और चन्द्रमा हैं। अब, कल्पवृक्ष तेज नहीं देंगे, तब ये सूर्य और चन्द्रमा देंगे, इसलिए इनसे डरना नहीं।

यहाँ तो भक्त कहता है कि हे भगवान! जहाँ हमें ज्ञानप्रकाश देनेवाले आप विराजमान हो, वहाँ हमें सूर्य-चन्द्रमा का तेज भी फीका लगता है। सूर्य-चन्द्रमा का प्रकाश तो इन्द्रियज्ञान में निमित्त है और आप तो अतीन्द्रियज्ञान का प्रकाश देनेवाले हो। आपके शरीर का तेज भी कोई अलौकिक, आश्चर्यकारी है और अन्दर आत्मा का चैतन्यतेज भी अचिन्त्य आश्चर्यकारी है।

जैसे, खेत में भरपूर अनाज पक जाने के बाद वर्षा की क्या आवश्यकता है? उसी प्रकार जहाँ आप विराजमान हो, वहाँ प्रकाश ही है तो फिर सूर्य-चन्द्रमा की क्या आवश्यकता है? और आत्मा में अतीन्द्रियज्ञान विकसित हुआ, तब इन्द्रियों की अथवा उनके निमित्तरूप सूर्य-चन्द्रमा के प्रकाश की क्या आवश्यकता है? जहाँ ज्ञान-तेज खिल गया, वहाँ अब प्रकाश, इन्द्रियों आदि की पराधीनता नहीं रहती। इसकी अद्भुत महिमा प्रवचनसार में कुन्दकुन्द आचार्यदेव ने समझायी है। प्रवचनसार गाथा-67 में वे कहते हैं कि यदि अन्धकार में दिख जाए - ऐसी आँख की शक्ति हो तो (बिल्ली आदि को) दीपक की क्या आवश्यकता है? वैसे ही आत्मा स्वयं स्वभाव से सुखरूप परिणमित हुआ है तो विषय उसमें क्या करते हैं? हे देव। आपका ज्ञान और सुख, दोनों बाह्य-विषयों से निरपेक्ष हैं, स्वाधीन-स्वयंभू हैं।

प्रभो! आपकी प्राप्ति होते ही हमारे आत्मा में ज्ञानप्रकाश हुआ, अज्ञानरूपी अन्धकार दूर हो गया, उसके लिए अब, सूर्य -चन्द्र की कोई आवश्यकता नहीं है। चैतन्य के अतीन्द्रिय सुख

के सामने अब बाह्य विषयों की आवश्यकता नहीं है। आपके शासन को प्राप्त करके हमारे चैतन्यरूपी खेत में धर्म का अनाज पका है, वहाँ अब जगत् में अन्य किन्हीं देवों से हमें क्या काम है? अरे, धर्म का बगीचा, गुणों से विकसित हुआ, उसमें पुण्य की या राग की भी अपेक्षा कहाँ है? चैतन्य के अन्तर में से धर्म का परिणमन हुआ, उसमें बाह्य साधन का कोई प्रयोजन नहीं है।

प्रभो! आपके सन्मुख देखते ही मोहरूपी अन्धकार दूर हो जाता है और सब संशय मिट जाता है। यदि आप सर्वज्ञदेव हमें मिले तो अब बाहर में अन्य किसी का प्रयोजन नहीं है। ऐसे भक्तिभावपूर्वक धर्मीजीव, अपनी परिणति को परभावों से पराङ्मुख करके अन्तर्मुख हो जाता है... यह स्तुति का तात्पर्य है। ●●

आप समान न अन्य कोई

हे प्रभो! इस जगत में आपके समान अन्य कोई देव नहीं है। इस प्रकार पहिचानपूर्वक मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

हे भगवान! आपको सम्पूर्ण इच्छाओं का अभाव हो गया होने से आप 'निर्ग्रन्थ' हैं।

- विषापहार प्रवचन, पृष्ठ-37

काव्य : 20

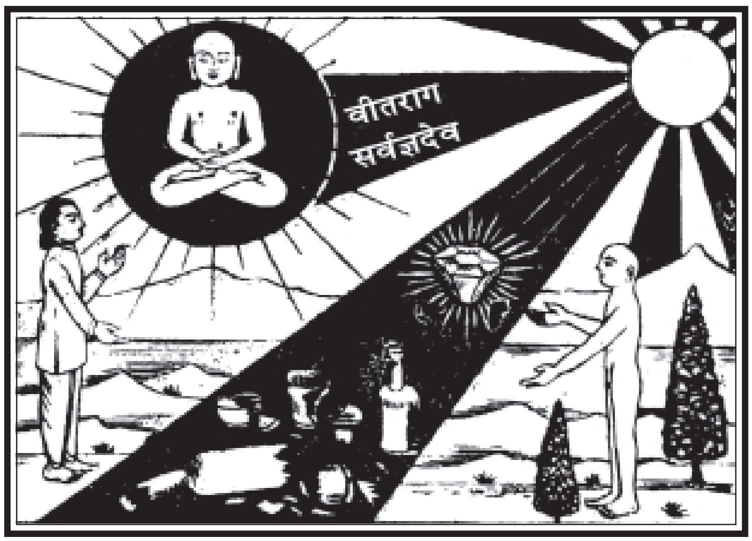

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं,
नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु।
तेजः स्फुरन्माणिषु याति यथा महत्त्वं,
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि॥ २०॥

जैसा शोभित होता प्रभु का, स्व-पर प्रकाशक उत्तम ज्ञान।
हरिहरादि देवों में वैसा, कभी नहीं हो सकता भान॥
अति ज्योतिर्मय महारतन का जो महत्त्व देखा जाता।
क्या वह किरणाकुलित कांच में, अरे कभी लेखा जाता॥ २०॥

काव्य - 20 पर प्रवचन

भगवान के अतीन्द्रिय ज्ञानप्रकाश की महिमा करते हुए साधक कहता है कि हे देव! अनन्त भावों से परिपूर्ण आपके केवलज्ञान में जैसी शोभा है, वैसी शोभा लोक के अन्य देव –ब्रह्मा–विष्णु–महेश–शंकर आदि में नहीं है; उनका ज्ञान तो इन्द्रियों के आधीन तथा क्रोधादि कषायों से मलिन है। चमकदार मणिरत्न का जैसा महान तेज है, वैसा तेज काँच के टुकड़े में नहीं होता, – भले ही वह सूर्य की किरणों से चमकता हो! (वह चमक उसकी नहीं है, वह तो बाहर की किरणों से हुई है।)

कहाँ जगमगाता मणि और कहाँ काँच का टुकड़ा! उसी प्रकार हे देव! आपके अतीन्द्रियज्ञान के सामने अन्य कुदेव तो हमें काँच के टुकड़े जैसे लगते हैं – भले ही कभी उनके पुण्य की थोड़ी चमक दिखायी देती हो और कई व्यन्तर आदि देव उन्हें पूजते हों परन्तु तीन लोक के इन्द्र, जिन्हें पूजते हैं – ऐसा महान केवलज्ञान तो आप में ही सुशोभित है। आपके जैसी पवित्रता या आपके जैसा पुण्य दूसरों को नहीं होता।

प्रभो! अज्ञानदशा में कोई खबर नहीं थी, तब तो काँच के टुकड़े जैसे रागी–द्वेषी कुदेवों को मैंने पूजा, परन्तु अब तीन लोक में तेज फैलानेवाले आप सर्वज्ञमणि मुझे मिले, मैंने आपको पहचाना; अब आपको छोड़कर अन्य कहीं मेरा मन मोहित नहीं होता। अन्य रागी जीवों को भले ही जगत् में करोड़ों जीव पूजते हों, परन्तु हमारे चित्त में तो वीतराग – ऐसे आप ही

बसे हो। जैसे सच्ची मणि किसी-किसी को ही मिलती है, काँच के टुकड़े तो चारों तरफ पड़े होते हैं; उसी प्रकार कुदेव को माननेवाले करोड़ों जीव होते हैं, परन्तु सर्वज्ञ वीतरागदेव को पहचाननेवाले जीव तो अति विरले ही होते हैं।

प्रभो! आपके जैसा ज्ञान और आपके जैसी वीतरागता, जगत् में अन्यत्र कहीं नहीं है। अतीन्द्रिय स्वसंवेदन ज्ञान में हमें चैतन्यमणि दिखायी पड़ी, उसके चैतन्य तेज के सामने पुण्य तो काँच के टुकड़े-सा लगता है, वह हमारे चित्त को आकर्षित नहीं कर सकता।

देखो, ज्ञान और राग के बीच का साधक जीवों का विवेक! सुदेव और कुदेव के अन्तर की परीक्षा!! हीरे का अपरीक्षक अनजान मनुष्य तो चमकते हुए काँच के टुकड़े को हीरा मान लेता है, परन्तु कुशल परीक्षक काँच और हीरे के बीच का भेद तुरन्त परख लेता है; वैसे ही देव की परीक्षा नहीं जाननेवाले अज्ञानीजन तो किसी भी पुण्यवन्त या व्यन्तरादि देव को भगवान मान लेते हैं, परन्तु कुशल मुमुक्षु तो वीतराग-सुदेव और सराग -कुदेव के बीच का भेद परख लेता है।

आत्मा की शोभा और पूज्यता राग से नहीं, अपितु सर्वज्ञता और वीतरागता से आत्मा की शोभा है। जिसे राग-द्वेष होता हो, जो क्रोध से राक्षसों का या दुश्मनों का संहार करता हो, जिसे स्त्री का साथ हो, मुकुट-वस्त्र-आभूषण आदि शृंगार हो – ऐसे जीव, लोक में भले कितने ही बड़े गिने जाते हों परन्तु जैनधर्म में वे देव के समान शोभित नहीं होते। भगवान का

भक्त ऐसे किसी कुदेव को नहीं मानता। जैनधर्म में तो जो सर्वज्ञ और वीतराग होते हैं, वे ही देव सुशोभित होते हैं। प्रभो! पुण्य से नहीं, अपितु सर्वज्ञता से आप हमारे पूज्य और इष्ट हो।

सर्वज्ञ परमात्मा का भक्त, पञ्च परमेष्ठी के अतिरिक्त अन्य किसी देव-देवी को नहीं मानता, नहीं पूजता। जो परमात्मा का भक्त हुआ, उसे अब जगत् का भय नहीं है, उसे कुदेव-देवी का भय नहीं होता। चैतन्यमणि; अर्थात् मेरे सर्वज्ञप्रभु के सामने तो सब काँच के टुकड़े जैसे हैं – ऐसा समझकर, वह सर्वज्ञ प्रभु के वीतरागमार्ग के अतिरिक्त अन्य किसी कुमार्ग में नहीं झुकता है। निःशंकरूप से वीतरागमार्ग में चलता है – इसका नाम भगवान की भक्ति है।

इस प्रकार सर्वज्ञता के महान आदरपूर्वक भगवान की स्तुति की गयी है। ●●

मुक्तदशा प्राप्ति की विधि

निश्चय से देखा जाए तो ये सभी नाम भगवान चैतन्यधातु के हैं। ध्रुव चिदानन्द आत्मा ज्ञान-आनन्दादि अनन्त-अनन्त गुणों की खान है। यह वास्तव में चिन्तामणि, कल्पवृक्ष, कामधेनु, कामकुम्भ, सिद्धरस, महामन्त्रादि सबकुछ है। ये सब वास्तव में आत्मा को ही लागू पड़ता है। ऐसी पहिचान जिसे होती है, उसके संसार का अल्पकाल में ही अभाव हो जाता है और उसे मुक्तावस्था की प्राप्ति होती है।

-विषापहार प्रवचन, पृष्ठ-53

काव्य : 21

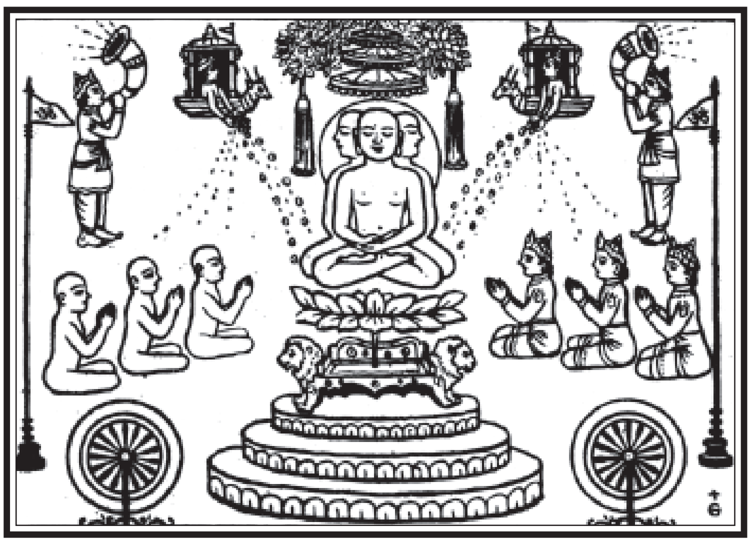

मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा,
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः,
कश्चिन्मनो हरति नाथ! भवान्तरेऽपि॥ २१॥

हरिहरादि देवों का ही मैं, मानूँ उत्तम अवलोकन।
क्योंकि उन्हें देखने भर से, तुझसे तोषित होता मन॥
है परन्तु क्या तुम्हें देखने, से हे स्वामिन! मुझको लाभ।
जन्म-जन्म में भी न लुभा पाते कोई यह मम, अमिताभ॥ २१॥

काव्य - 21 पर प्रवचन

हे अरहन्त! पहले अज्ञानदशा में मैं कुदेवों को मानता था, तब मैंने ब्रह्मा-विष्णु-महेश आदि अनेक रागी-द्वेषी देवों को देख लिया – यह अच्छा हुआ, ऐसा मैं मानता हूँ, क्योंकि उन्हें देखने के बाद अब एक आपसे ही मेरा हृदय सन्तुष्ट हुआ है। पहले तो मैंने आपको देखा नहीं था, पहचाना नहीं था परन्तु अब आपको पहचानने के बाद इस भव में या दूसरे भव में भी मेरे मन को अन्य कोई हर नहीं सकता।

देखो, भगवान के साथ भक्त की कोलकरार!

प्रभु! अब मैं जागृत हुआ हूँ; वीतराग सर्वज्ञ-सुदेव और (रागी-द्वेषी) कुदेव के बीच का महान् भेद मैंने जान लिया है। अन्य मतों में ईश्वर को जगत् का कर्ता तथा रागी-द्वेषी मानते हैं – इस बात में क्या भूल है, वह मैंने आपके वीतराग मत में आकर जान लिया है।

आपने तो जो स्वयं-सिद्ध जगत् का, अर्थात् जड़-चेतन का अस्तित्त्व था, उसे सर्वज्ञता से जान लिया; इसलिए आप जगत् के ज्ञाता हो, कर्ता नहीं। जो अपने को स्वयं-सिद्ध वस्तु का कर्ता मानता है, वह अनादिसिद्ध वस्तु का ज्ञाता नहीं हो सकता, अर्थात् सर्वज्ञ नहीं हो सकता और उसे सर्वज्ञ की श्रद्धा भी नहीं हो सकती, क्योंकि यदि पहले वस्तु नहीं थी तो उसका कोई ज्ञाता भी नहीं था, अर्थात्, सर्वज्ञ-त्रिकालज्ञ भी नहीं था – ऐसा नास्तिकपना हो जाता है। प्रभो! अब आपको देखते ही यह सारा भ्रम भाग गया है और सत्यस्वरूप समझ में आ गया है।

पहले आपके अतिरिक्त अन्य सब को देखा परन्तु मुझे कहीं मोक्षमार्ग नहीं मिला, इसलिए मेरा चित्त उनमें कहीं स्थिर नहीं हुआ। प्रभो! अब मुझे सर्वज्ञ-वीतराग – ऐसे आप मिले और आप से मोक्षमार्ग प्राप्त हुआ, जिससे मेरा चित्त सन्तुष्ट हुआ और आप में स्थिर हुआ... कि सच्चे देव हो तो ऐसे हो।

अहो! सर्वज्ञ भगवान का ज्ञान, उनका शरीर और उनकी वाणी – ये सब जगत् की अपेक्षा भिन्न जाति का होता है। प्रभो! हमने परीक्षा करके तुलना की है कि आप जैसे अरहन्त भगवान में ही सर्वज्ञ-वीतरागपना है और प्रत्येक आत्मा में परमात्मपना भरा है – ऐसा उपदेश आपने ही हमें दिया है। यह जानकर हमारा मन ललचाया है, इसके अतिरिक्त जगत् के अन्य किसी पदार्थ में अब हमारा मन नहीं लगता।

अनादि के विभावों में कभी भी जो तृप्ति नहीं हुई थी, वह तृप्ति अब आपके मार्ग में आपके जैसे स्वभाव को देखते ही हुई। ऐसी तृप्ति आपके वीतराग मार्ग में आकर ही हुई; इसलिए एक ही वीतराग स्वामी धारण किये हैं; अब हम दूसरा स्वामी धारण करनेवाले नहीं हैं और आपके मार्ग को कभी छोड़नेवाले नहीं हैं।

अहा प्रभो! प्रत्येक आत्मा में स्वतन्त्ररूप से निज वैभव से परिपूर्णपना है, वह आप ही बतलाते हो। आप कहते हो कि 'हमारे प्रति भक्ति में तुम्हें जो राग है, वह भी हित का कारण नहीं है; रागरहित जैसा हमारा आत्मा है, वैसा ही तुम्हारा स्वभाव है, उस स्वभाव के सन्मुख होओगे तो तुम्हें हमारे जैसा

परमात्मपद प्रगट होगा' – ऐसी स्वाधीन परिपूर्णता का ढ़िढ़ोरा, हे नाथ! आपने ही प्रसिद्ध किया है और इस कारण हमारा चित्त आप में ही सन्तोष को प्राप्त करता है।

प्रभो! आपके अतिरिक्त अन्य को पहले देख लिया, यह अच्छा हुआ, क्योंकि रागी–द्वेषी–अज्ञानी जीवों के साथ सर्वज्ञ –वीतराग – ऐसे आप की तुलना करने से हमें आपकी सम्यक् महिमा ज्ञात हुई, मोक्षमार्ग समझ में आया। अब, हमारा चित्त ऐसा सन्तुष्ट हुआ कि इस भव में या अन्य भव में भी आपके मार्ग से हम चलायमान नहीं होंगे और कुमार्गों या कुदेवों के प्रति कभी झाँककर भी नहीं देखेंगे।

'भगवान ने शत्रुओं को मारा; भगवान ने भक्तों पर करुणा करके उद्धार किया' – ऐसी बात अज्ञानियों को मधुर लगती है, परन्तु इसमें तो बहुत विपरीतता है और भगवान की वीतरागता की विराधना है। भक्त–जीवों के दु:ख देखकर जिसका हृदय द्रवित हो जाए और करुणा से रागवृत्ति हो जाए, वह वीतराग नहीं है, परमात्मा नहीं हैं, अपितु रागी–अल्पज्ञ है; तथा दुष्ट जीवों की दुष्टता देखकर जिसके हृदय में क्रोध जागृत हो और उन दुष्टों को मारे तो वह भी भगवान नहीं है, वह तो क्रोधी है। परमात्मा को तो शत्रु–मित्र के प्रति समभाव है, उन्हें कहीं भी राग–द्वेष नहीं होता। ऐसी अत्यन्त वीतरागता से सुशोभित सर्वज्ञ परमात्मा ही सच्चे देव हैं। ऐसे भगवान की अद्भुत सर्वज्ञता और वीतरागता देखकर, मुमुक्षु जीव को परमतृप्ति और बहुमान जागृत होता है।

प्रभो! अन्य को देखने से तो आप में सन्तोष हुआ, परन्तु आपको देखकर तो हम अन्य सभी को भूल गये, सभी से हमारा मन हट गया – आपकी ऐसी अचिन्त्य महिमा हमारे हृदय में वस गयी है।

आपके दर्शन ने और आपकी पहचान ने तो हमारे आत्मा में कोई जादूई, अर्थात् आश्चर्यकारी असर करके, अनादि काल में अन्य सभी कुदेव जो सन्तोष नहीं दे सके, वह सन्तोष आपको देखनेमात्र से ही हमें प्राप्त हो गया। परभाव में तो कभी सन्तोष नहीं हुआ, अब आपके मार्ग में शुद्धात्मा का सम्यग्दर्शन होते ही अपूर्व सन्तोष प्राप्त हुआ, परमतृप्ति हुई, महा आनन्द हुआ। इस प्रकार परम बहुमानपूर्वक जिनेन्द्रदेव की श्रद्धा करके, उनकी स्तुति की जाती है; पहचान बिना अन्धी भक्ति नहीं। सत्-असत् का विवेक करके जागृत साधक जीव ही ऐसी भक्ति कर सकता है। वह स्वप्न में भी राग का आदर नहीं करता, वीतरागता का ही आदर करते-करते अल्प काल में राग को तोड़कर स्वयं परमात्मा हो जाता है। ●●

काव्य : 22

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्त्र - रश्मिं,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम्॥ २२॥

सौ-सौ नारी सौ-सौ सुत को, जनती रहती सौ-सौ ठौर।
तुम से सुत को जननेवाली, जननी महती क्या है और?
तारागण को सर्व दिशाएँ, धरें नहीं कोई खाली।
पूर्व दिशा ही पूर्ण प्रतापी, दिनपति को जनने वाली॥ २२॥

काव्य - 22 पर प्रवचन

भगवान ऋषभदेव इस स्तुति के स्तुत्य हैं; मानतुङ्ग आचार्य स्तुतिकार है और परिणाम की विशुद्धि, अर्थात् वीतरागभाव की वृद्धि, वह स्तुति का फल है।

जो परमात्मा के मार्ग में अग्रसर है – ऐसा धर्मात्मा, परमात्मा की स्तुति से स्वयं की परमात्मा बनने की भावना को पुष्ट करता है और भगवान के साथ उसकी माता की भी याद करके उनकी महिमा करता है।

हे देव! आप तो जगत् में अद्वितीय और आपको जन्म देनेवाली माता भी जगत् अद्वितीय! जगत् में स्त्रियाँ तो सैंकड़ों हैं और वे सैंकड़ों पुत्रों को जन्म देती हैं, परन्तु आपके जैसे होनहार-तीर्थङ्कर पुत्र को जन्म देनेवाली तो आपकी माता एक ही है, अन्य कोई वैसी स्त्री जगत् में नहीं है। मनुष्यों में तीर्थङ्कर ही ऐसे है कि जो मति-श्रुत-अवधि – इन तीन ज्ञानसहित अवतरित होते हैं, अन्य सभी मनुष्य तो दो ही ज्ञानसहित जन्म लेते हैं। ऐसे तीन ज्ञानसहित अद्वितीय पुत्र को जन्म देनेवाली माता भी जगत् में अद्वितीय है। इसमें यह न्याय भी आ जाता है कि तीर्थङ्कर की माता, तीर्थङ्कर को एक को ही जन्म देती है, उनकी दूसरी सन्तान नहीं होती।

अहा! जो माता, तीर्थङ्कर की माँ कहलाये, उसकी महिमा की क्या बात! उन्हें तो इन्द्र भी 'जगत् माता' कहकर सम्मान करते हैं। जैसे, सामान्य तारे तो आकाश में चारों ओर सभी दिशाओं में उदित होते हैं, परन्तु हजारों किरणों से जगमगाते

सूर्य को तो पूर्व दिशा ही प्रगट करती है। उसी प्रकार जगत् की सैकड़ौं स्त्रियाँ अनेक पुत्रों को भले ही जन्म दें, परन्तु आपके जैसे असाधारण तीर्थङ्कर पुत्र को जन्म देने का सौभाग्य क्या सभी स्त्रियों को प्राप्त होता है? नहीं, यह सौभाग्य तो एकमात्र आपकी माता को, एक को ही है।

जगत् में सैकड़ों-लाखों-करोड़ों पुत्र होते हैं; परन्तु आपके जैसे कितने होते हैं? आपके जैसे तो आप एक ही हो। आप जगत् में अद्वितीय हो, आपकी माता भी जगत् में अद्वितीय हैं.... उन्हें 'रत्नकुंखधारिणी' कहकर इन्द्र भी बहुमान करते हैं। पुत्र (तीर्थङ्कर) तो तद्भव-मोक्षगामी है और उनकी माता भी एक भव के पश्चात् मोक्षगामी होती हैं – 'धन्य अवतार!' इन्द्र कहता है – हे माता! यह तुम्हारा तो पुत्र है परन्तु हमारा नाथ है, यह सम्पूर्ण जगत् का नाथ है; जगत के जीवों को मोक्ष का मार्ग बताकर उनका उद्धार करेगा।

लोग कहते हैं – 'नारी नरक की खान' परन्तु हे माता! आप तो तीर्थङ्कर की खान हो... तीर्थङ्कर जैसा बेजोड़ रत्न आपके उदर में पला है... तुम वीरपुत्र की जननी हो। इस प्रकार माता की महिमा द्वारा भी वास्तव में तीर्थङ्कर की स्तुति करते हैं कि अहा! उस पुत्र का अवतार धन्य है कि जिसने इस भव में ही परमात्मपद को साध लिया है।

हे देव! जिसके उदर में आप विराजमान हो, वह स्त्री भी धन्य बनी तो हमारे हृदय में आप विराजते हो; इसलिए हमारा जीवन भी हम धन्य समझते हैं। जैसे, आप जिसके अन्तर में

विराजते हो, वह माता भी अशुचिरहित पवित्र होती है, तो हमारे अन्तर में आप विराजते हो और हम पवित्र न हों – यह कैसे सम्भव है? जिसके अन्तर में आप वसते हो, उसके अन्तर में मिथ्यात्व की मलिनता नहीं रहती, अर्थात्, आपका भक्त पवित्र होकर मोक्ष को साध लेता है।

अहा! जिसके अन्तर में मुक्त परमात्मा वसते हैं, वे जीव मोक्षगामी नहीं हों – ऐसा सम्भव नहीं है। इस प्रकार भगवान के भक्त को स्वयं मोक्ष की निःशङ्क झंकार अन्दर से आ जाती है। भगवान! आपके माता-पिता नियम से मोक्षगामी होते हैं तो हम आपके भक्त भी मोक्षगामी ही हैं – ऐसे अन्तर के भावसहित की यह स्तुति है। ●●

परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध

'कर्म, जीव को चतुर्गति में ले जाते हैं' — यह कथन जीव एवं कर्म के बीच परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की दृष्टि से किया जा रहा है किन्तु ज्ञाता-दृष्टा जीवस्वभाव की दृष्टि से तो जीव का गतियों में आना-जाना है ही नहीं। जीवस्वभाव तो अनादि संसार में वैसा का वैसा ही रहा है। जैसे चलती हुई घड़ी के झूलते हुए घन्टे पर कोई मक्खी बैठी है तो घन्टे के घूमते समय ऐसा लगता है कि मक्खी भी घूम रही है किन्तु उस समय वस्तुतः मक्खी तो जहाँ है, वहीं है; फिरनेवाला तो घड़ी का घन्टा है, मक्खी नहीं।

- विषापहार प्रवचन, पृष्ठ-43

काव्य : 23

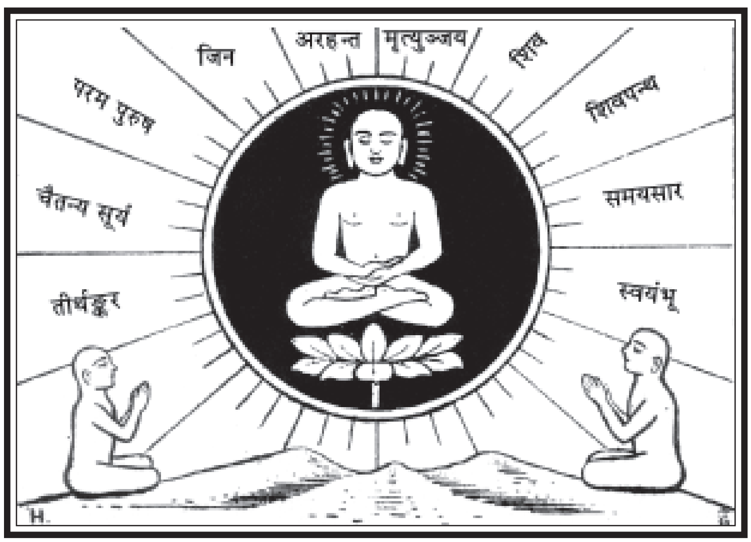

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस-
मादित्य वर्णममलं तमसः पुरस्तात्।
त्वामेव सम्य गुपलभ्य जयन्ति मृत्युं,
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र! पंथाः ॥ २३ ॥

तुम को परम पुरुष मुनि माने, विमल वर्ण रवि तमहारी।
तुम्हें प्राप्त कर मृत्युञ्जय के, बन जाते जन अधिकारी॥
तुम्हें छोड़कर अन्य न कोई, शिवपुर-पथ बतलाता है।
किन्तु विपर्यय मार्ग बताकर, भव-भव में भटकाता है॥ २३॥

काव्य - 23 पर प्रवचन

हे देव! मुनि भी आपको ही परमपुरुष मानते हैं; और सूर्य जैसे तेजस्वी (सुवर्णवर्ण) भी आप ही हो, क्योंकि अज्ञान अन्धकार से रहित हो; आप रागादि दोषों की मलिनता से रहित अमल-निर्मल हो। भव्य जीव, सम्यक्‌रूप से आपको उपलब्ध करके मृत्यु को जीतते हैं; इसलिए मृत्युञ्जय भी आप ही हो और हे मुनीन्द्र! आप ही शिव हो, आपने ही शिवपद की प्राप्ति का पन्थ / मोक्षमार्ग दिखाया है, आपसे अन्य कोई शिवमार्ग नहीं है।

देखो, एक तीर्थङ्कर के गुण की स्तुति में सभी तीर्थङ्कर -केवली-भगवन्तों की स्तुति आ जाती है क्योंकि गुण में सभी भगवन्त समान हैं। देह आदि भले ही बड़े-छोटे होते हों परन्तु केवलज्ञानादि आत्मगुण सभी के एक-समान हैं; उन गुणों के द्वारा भगवान के स्वरूप की सच्ची पहचान और स्तुति होती है।

परमपुरुष : हे ऋषभदेव! इस युग में सबसे पहले परमपद को साधनेवाले और भव्य जीवों को मोक्ष का मार्ग दिखानेवाले परमपुरुष आप ही हो। परमपद की साध करके परमात्मा हुए, इसलिए पुरुषों में आप श्रेष्ठ हो। ज्ञान-आनन्द आदि अनन्त उत्कृष्ट गुणरूपी जो चैतन्यपुर, आत्मा का परमस्वरूप, उसमें रमण करनेवाले.... लीन रहनेवाले होने से आप परमपुरुष हो। केवलज्ञान का उत्कृष्ट पुरुषार्थ करनेवाले परमपुरुष आप ही हो।

आदित्यवर्ण : प्रभो! आपका ज्ञान, सूर्य के समान तेजस्वी

है और आपका शरीर भी सुवर्णवर्ण है; आपके शरीर की दिव्यप्रभा बाहर के अन्धकार को दूर करती हैं और आपका चैतन्य तेज, अज्ञान-अन्धकार को दूर करता है। जहाँ आप विराजमान हो, वहाँ अन्दर-बाहर अन्धकार नहीं होता; इस प्रकार आप 'सूर्य' की अपेक्षा भी विशेष 'कीर्ति' वाले हो।

अमल : कषायरूप मोह / मेल से रहित होने से आप अमल हो, निर्मल हो; आपका शरीर भी सर्व प्रकार की मलिनता से रहित पवित्र है। यहाँ तो आत्मा की मुख्य बात है।

मृत्युञ्जय : हे देव! मोह को सर्वथा नष्ट करके आपने मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली है। आप जन्म-मरण से रहित हो गये हो और सम्यक्‌रूप से आपको उपलब्ध करके, आपके समान सम्यक् आत्मस्वरूप को पहचानकर और प्रगट करके हमारे जैसे भव्य जीव भी मृत्यु को जीतकर जन्म-मरण से रहित हो जाते हैं; इसलिए आप मृत्यु के विजेता 'मृत्युञ्जय' हो।

अहा! जो अन्तर्मुख होकर आपके सम्यक स्वरूप का अनुभव करता है, उसे जन्म-मरण का चक्कर नहीं रहता। आपके स्वरूप की सच्ची पहचान करे तो राग से भिन्न उपयोगस्वरूप शुद्ध आत्मा अनुभव में आता है और सम्यग्दर्शन होता है; फिर उसी स्वरूप में एकाग्र होकर राग-द्वेष दूर करके शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है; जिससे परमात्मदशा प्रगट होती है। अब, उसके भव नहीं रहते, मृत्यु नहीं रहती; इसलिए वह मृत्युञ्जय हुआ। इस प्रकार हे नाथ! आप स्वयं तो मृत्युञ्जय हो और आपकी सम्यक् उपलब्धि करनेवाले जीव भी मृत्युञ्जय हो जाते हैं।

हे मुनीन्द्र! हे मुनियों के नाथ! आप स्वयं शिव, अर्थात्, कल्याणस्वरूप हो, और आप ही हमें शिवपन्थ (मोक्षमार्ग) दिखानेवाले हो। आपके अतिरिक्त अन्य कोई शिवपद की प्राप्ति का पन्थ नहीं है; आप ही मोक्ष और मोक्षपन्थ हो। आपके सेवन से ही मुनिजन, मोक्षमार्ग को साधते हैं। मोक्षमार्ग पर चलनेवाले मोक्षार्थी जीवों के आप नायक हो, इसलिए मोक्षमार्ग के नेता हो। आपके वीतरागी शासन के अतिरिक्त अन्य कहीं मोक्षमार्ग नहीं है – ऐसी स्तुति द्वारा मुनिराज मानतुङ्गस्वामी प्रसिद्ध करते हैं कि हे भव्य जीवो! मोक्ष के लिए तुम ऐसे परमात्मा का सेवन करो, उनके द्वारा उपदेशित मोक्षमार्ग का सेवन करो; मोक्ष के लिए दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

जिनेन्द्र परमात्मा, धर्मात्मा जीवों के नाथ हैं। समकिती जीव ही भगवान को नाथ के रूप में स्वीकार करते हैं। वे ही धर्म के रक्षक और पोषक हैं। जिन्हें राग की रुचि है – ऐसे अज्ञानी जीव, भगवान को नाथ स्वीकार नहीं करते, क्योंकि भगवान कोई राग के रक्षक या पोषक नहीं है। भगवान के द्वारा बताया गया मोक्षमार्ग तो राग का नाशक और धर्म का रक्षक है; इसलिए धर्मात्मा जीवों के हृदय में ही परमात्मा विराजते हैं, राग में भगवान नहीं वसते।

अहा! इस प्रकार भगवान का स्वरूप पहचानकर, उनकी उपासना करनेवाले के भव का अन्त आ जाता है। यही मृत्यु को जीतने के लिए 'मृत्युञ्जय मन्त्र' है और यही मोक्षमार्ग है। मरण से बचने का और मोक्ष की प्राप्ति का दूसरा उपाय जगत् में नहीं है। ●●

काव्य : 24

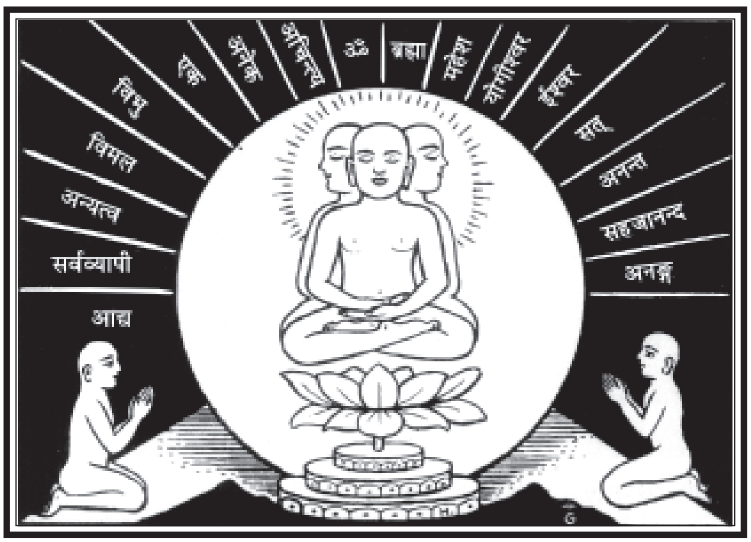

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्य-मसंख्यमाद्यं,
ब्रह्माणमीश्वरमनन्त-मनङ्ग-केतुम्।
योगीश्वरं विदित-योग-मनेकमेकं,
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः॥ २४॥

तुम्हें आद्य अक्षय अनन्त प्रभु, एकानेक तथा योगीश।
ब्रह्मा ईश्वर या जगदीश्वर, विदितयोग मुनिनाथ मुनीश॥
विमल ज्ञानमय या मकरध्वज, जगन्नाथ जगपति जगदीश।
इत्यादिक नामों कर माने, सन्त निरन्तर विभो निधीश॥ २४॥

काव्य - 24 पर प्रवचन

हे देव! आप अव्यय, विभु और अचिन्त्य हो; संख्यातीत आद्य, ब्रह्मा और ईश्वर हो; आप अनन्त और अनङ्गकेतु हो; योग को जाननेवाले आप ही योगीश्वर हो; अनेक तथा एक भी आप ही हो; आप ज्ञानस्वरूप और अमल हो – इस प्रकार गुणवाचक नामों से सन्त ज्ञानीजन आपका स्तवन करके, आपके स्वरूप की महिमा प्रसिद्ध करते हैं।

अव्यय : जो ध्रुव मोक्षपद आपने प्राप्त किया है, जो सिद्धदशा उत्पन्न हुई है, उसका अब कभी व्यय नहीं होगा; इसलिए आप अव्यय हो। स्वर्ग के देवों को 'अमर' कहते हैं, वह दीर्घायू के कारण कहते हैं, परन्तु अन्त में तो वे भी वहाँ से च्युत होकर दूसरी गति में अवतरित होते हैं, वे कहीं अव्यय नहीं हैं; इसलिए पुण्य-पदवी अव्यय नहीं है; व्ययरहित सच्चा अमर-ध्रुव रहनेवाला तो केवलज्ञान और सिद्धपद है, उसका व्ययरहित उत्पाद है; वह आत्मा के स्वभाव से हुआ होने से अव्ययरूप है – ध्रुवरूप है। ऐसे सिद्धपद को प्राप्त हुए हे देव! आप ही अव्यय हो। हमें भी ऐसा ही ध्रुवपद साध्य है; इसलिए उसे लक्ष्य में लेकर आपका स्तवन करते हैं।

पुण्य-पाप या उसका फल अध्रुव-नाशवन्त है, वह हमें इष्ट नहीं है। आत्मा के ध्रुवस्वभाव के अवलम्बन से प्राप्त अविनाशी सिद्धपद ही हमें इष्ट है। जो परिभ्रमण करके संसार में अवतार ले, उसे परमात्मा नहीं कहते, वह तो रागी-द्वेषी संसारी है। मोक्ष को प्राप्त परमात्मा, परिभ्रमण करके कभी संसार

में अवतरित नहीं होते, हे जिनदेव! ऐसे अव्यय-परमात्मा आप ही हो।

विभु : हे जिनदेव! विभु भी आप ही हो, क्योंकि आप अपने अनन्त स्वधर्मों में तन्मयरूप से व्याप्त रहते हो अथवा केवलज्ञान के बाद जब आपने मोक्ष की तैयारीरूप से समुद्घात (आत्मप्रदेशों का विस्तार) किया, तब एक समय के लिए आपके आत्मप्रदेश सम्पूर्ण लोक में, सर्व क्षेत्र में फैल गये, इस अपेक्षा से आप सर्वव्यापी विभु हो। ऐसा सर्वव्यापीपन केवली भगवान के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं होता; जैनधर्म में ही वह होता है। इस प्रकार हे देव! सर्वव्यापी विभु आप ही हो, अन्य कोई आत्मा सर्वव्यापी नहीं है।

ज्ञान की सर्व को जानने की शक्ति आप में विद्यमान है, आपका केवलज्ञान, लोकालोकरूप सर्व ज्ञेयों में व्याप्त है, अर्थात् सर्व को जानता है – इस अपेक्षा भी आप लोकालोक के सर्व ज्ञेयों में व्यापक विभु हो। यह ज्ञान की सर्वशक्ति बताने के लिए निमित्त से कथन है; परमार्थ से सर्वज्ञप्रभु कहीं बाहर में नहीं, अपितु अपने असंख्य प्रदेशों में रहनेवाले अनन्त गुण-पर्यायों में ही सर्वत्र व्याप्तकर रहनेवाले विभु हैं। हे देव! ऐसी विभुता, आप में ही है; और हमारा आत्मा भी हमारे सर्व गुण-पर्यायों में व्यापक है – इस प्रकार आपने हमें हमारा विभुत्व दिखाया है।

समयसार के परिशिष्ट में शुद्ध ज्ञानपरिणमन में रहनेवाली अनन्त शक्तियों में से 47 शक्तियों का अद्भुत वर्णन किया

है। उसमें जीवत्त्व, स्वच्छता, प्रभुता, विभुत्व, कर्तृत्व आदि आत्मशक्तियाँ बतायी हैं। उन प्रत्येक गुणवाचक नाम से भगवान आत्मा को पहचान सकते हैं – जैसे कि, हे प्रभो! आप स्वच्छ हो, आपका स्वसंवेदन अत्यन्त स्पष्ट-प्रत्यक्ष है; आप अनन्त निजगुणों में व्यापक विभु हो; आप आत्मिक गुणों से शोभायमान अखण्ड प्रतापवन्त प्रभु हो; आप शुद्ध स्वपरिणाम के कर्ता हो; आप ही उसके साधन (करण) हो; आप अतीन्द्रिय आनन्द के भोक्ता हो; आप रागादि विभाव के अकर्ता-अभोक्ता हो। इस प्रकार अनेक सन्त-विद्वानों ने 1008 गुणवाचक नामों से सर्वज्ञ परमात्मा की स्तुति की है और जितने सर्वज्ञ परमात्मा के विशेषण हैं, वे सब इस जीव के स्वभाव में लागू पड़ते हैं; इसलिए सर्वज्ञदेव की स्तुति के बहाने आत्मा का शुद्धस्वभाव लक्ष्य में लेते ही साधकभावरूप प्रारम्भ होता है और उसके बहुमान द्वारा साधकभाव वृद्धिङ्गत होते-होते अन्त में वैसा स्वभाव प्रगट करके आत्मा स्वयं परमात्मा बन जाता है – ऐसे भाव, सर्वज्ञ की इस स्तुति में भरे हुए हैं। साध्य की स्तुति द्वारा अपने साधकभाव की पुष्टि की है।

प्रश्न : भूतकाल अनादि है, भविष्यकाल अनन्त है, आकाशक्षेत्र अनन्त है; आपने कहा कि विभु — आत्मा 'सर्वज्ञ' है तो वे सर्वज्ञ 'अनादि-अनन्त' को किस प्रकार जानते हैं? यदि जानते हैं तो उस ज्ञान में उसका अन्तिम छोर आ गया?

उत्तर : हे भाई! सर्वज्ञ की शक्ति कोई अचिन्त्य-अद्भुत है, उस शक्ति की अनन्तता सबसे महान् है। आकाश-प्रदेशों

की अनन्तता की अपेक्षा भी ज्ञानशक्ति की अनन्तता महान् अनन्तगुणी है। ज्ञान की अनन्त गम्भीरता में आकाश का अनन्तपना या काल का अनादि-अनन्तपना ज्ञेयरूप से समा जाता है। अनन्त आकाश और अनादि-अनन्त काल, ज्ञान में परिपूर्ण जानने में आता है, फिर भी वह कहीं आदि-अन्तवाला नहीं हो जाता; 'अनादि' अनादिरूप से रहकर और 'अनन्त' अनन्तरूप से रहकर ज्ञान में ज्ञेयरूप जानने में आता है। ऐसी कोई अचिन्त्य महानता ज्ञान में है। यदि 'अनादि' को 'आदिवाला' जाने या 'अनन्त' को भी 'अन्तवाला' जाने तो वह ज्ञान मिथ्या है। अनादि को अनादिरूप और अनन्त को अनन्तरूप ही जो ज्ञान न जाने तो उस ज्ञान को पूर्ण या दिव्य सामर्थ्यवाला कौन कहेगा? 'अनादि की शुरूवात कब हुई' – ऐसा प्रश्न तो 'मेरे मुख में जीभ नहीं है' ऐसा बोलने जैसा; अर्थात् स्ववचन-विरोध है।

भाई! सर्वज्ञ का स्वरूप बहुत गम्भीर है। तर्क से इसका पार नहीं पा सकते। आकाश की अनन्तता की अपेक्षा ज्ञान की अनन्तता बहुत गम्भीर, महान अनन्तगुनी है। अनन्त ज्ञानसामर्थ्य की प्रतीति करने से ज्ञान, अतीन्द्रिय और निर्विकल्प हो जाता है – ऐसी अचिन्त्य ज्ञानस्वभाव की प्रतीति की बहुत महिमा है। सम्यग्दृष्टि जीव ही उसकी प्रतीति कर सकते हैं।

अचिन्त्य : हे सर्वज्ञदेव! आपका स्वरूप अचिन्त्य है, वह वाणी अथवा विकल्पों से पार है। मन के विकल्प से भी वह पकड़ में नहीं आता; वह तो अतीन्द्रिय ज्ञान से ही अनुभव

में आता है। केवलज्ञान की भाँति साधक के सम्यक्त्वादि भाव भी अतीन्द्रिय और अचिन्त्य है; इसलिए इन्द्रियों और मन से पार हैं।

मिथ्यादृष्टि जीव बिना अनुभव, मात्र मन की कल्पना से या विकल्प से आपके स्वरूप की कल्पना करते हैं, परन्तु वास्तविक स्वरूप उनके चिन्तवन में नहीं आ सकता। जो मन के विकल्प से आत्मा के शुद्धस्वरूप को पकड़ना चाहते हैं, उन्होंने आत्मा को स्थूल माना है, उन्हें आत्मा के अतीन्द्रिय स्वरूप का सच्चा निर्णय भी नहीं है, परमात्मा को भी नहीं वे पहचानते हैं। परमात्मा, इन्द्रियज्ञान का विषय नहीं है परन्तु अतीन्द्रियज्ञान में स्वसंवेदन से गम्य है, अनुभव में आता है। इस प्रकार यहाँ स्तुति द्वारा आत्मा के स्वसंवेदन की, अर्थात् धर्म के अनुभव की प्रक्रिया भी बतला दी है।

असंख्य : हे देव! आप में संख्यातीत गुण है, उनकी संख्या से गिनती नहीं हो सकती। ज्ञान के अनुभव में सभी गुण एकसाथ आ जाते हैं परन्तु भेद करके संख्या से उनकी गिनती नहीं हो सकती।

आदिपुरुष : हे ऋषभदेव! भरतक्षेत्र की इस चौबीसी में आप पहले तीर्थङ्कर हो; इसलिए धर्मयुग के आदिपुरुष हो। तीर्थङ्कर तो अनादि से हुआ करते हैं परन्तु हमारे लिए इस चौबीसी में आप आद्य हो।

ब्रह्मा : ब्रह्मस्वरूप-ज्ञानस्वरूप आत्मा में लीन होने से सभी भगवन्त ब्रह्मा हैं, अपनी-अपनी धर्मसृष्टि को रचनेवाले

हैं। ब्रह्मा का स्वरूप ऐसा नहीं है कि इस जगत् की रचना करे। जड़-चेतनरूप यह जगत तो अनादि स्वयंसिद्ध है, उसकी रचना करनेवाला कोई ब्रह्मा नहीं है। परन्तु हे आदिनाथ जिनेन्द्र! इस युग में भव्य जीवों के लिए मोक्षमार्ग बताकर अपने धर्मसृष्टि की रचना की है, अपने आत्मा में शुद्धोपयोगरूप धर्म की रचना की है और उपदेश द्वारा भव्य जीवों में धर्म की रचना की है; इसलिए आप ही सच्चे ब्रह्मा हो। जो ब्रह्मा का ऐसा स्वरूप पहचानता है, उसे बाहर में सृष्टि के कर्तृत्व का या पर में कर्तृत्व का भ्रम छूट जाता है। हे देव! हमारी आत्मा में सम्यग्दर्शनादि धर्म की सृष्टि उत्पन्न होने में आप ही निमित्तरूप हो; इसलिए आपको ही हम ब्रह्मा जानते हैं।

ईश्वर : चैतन्य के निज गुणों का जो अनन्त वैभव, उसके स्वामी होने से आप ही ईश्वर हो। आत्मा का केवलज्ञान-सुख आदि जो अनन्त ऐश्वर्य तथा बाहर में समवसरण की दिव्य विभूतिरूप ऐश्वर्य, उसके स्वामी होने से ज्ञानी-सन्त आपको ही ईश्वर रूप से सम्बोधन करते हैं, अन्य कोई जगत् का कर्ता ईश्वर नहीं है। '**कर्ता ईश्वर कोई नहीं; ईश्वर शुद्ध स्वभाव**' – ईश्वर के ऐसे सर्वज्ञ-वीतरागस्वरूप की पहचान जैनधर्म में ही है। लोग, ईश्वर का अन्य काल्पनिक स्वरूप मानते हैं, वह यथार्थ नहीं है।

अनन्त : हे देव! अनन्त गुण के वैभव से भरपूर आप अनन्तस्वरूप हो; आपके ज्ञान आदि की सामर्थ्य भी अनन्त है।

अनङ्गकेतु : अनङ्ग, अर्थात् काम-भोग; केतु, अर्थात्

पुच्छल तारा (धूमकेतु आदि...); लोक में पुच्छल तारा (केतु) का उदय नाश का चिह्न माना हैं; इसी प्रकार हे देव! आप काम-भोग के नाशक होने से अनङ्गकेतु हो; आपका उदय जगत् की काम-भोग की वासना को नाश करनेवाला है। आपकी दिव्यवाणी, भव्य जीवों के विषय-कषायों को नाश कराके अशरीरी सिद्धपद देनेवाली है; इसलिए हे देव! सन्त आपको ही अनङ्गकेतु कहते हैं।

योगीश्वर : अहा! आप ही शुद्ध उपयोग से चैतन्य का ध्यान करनेवाले परम योगीश्वर हो। आप ही रागरहित, शुद्ध उपयोग का स्वरूप जाननेवाले 'विदित योग' हो; और योगी – शुद्धोपयोगी मुनियों में आप श्रेष्ठ हो; इसलिए आप ही सच्चे योगीश्वर हो।

जिसे आत्मागुणों का प्रेम हो, उसे तो ऐसे विध-विध गुणों से सर्वज्ञ की स्तुति करने में और इस प्रकार के आत्मगुणों का चिन्तवन करने में रस आता है – मजा आता है। जिसे आत्मा के गुणों की पहचान नहीं हैं, उसे स्तुति का उल्लास नहीं आता। इसमें तो परमात्मा की पहचानसहित भक्ति का अपूर्व उल्लास है।

अनेक तथा एक : हे परमात्मा! वस्तुरूप से आप एक हो और उसमें रहनेवाले द्रव्य-गुण-पर्याय; उत्पाद-व्यय-ध्रुवता; अस्तित्व-नास्तित्त्व - ऐसे अनेक धर्मस्वरूप आप ही हो। एकपना तथा अनेकपना दोनों को एक साथ अपने में रखनेवाला ऐसा आश्चर्यकारी अनेकान्तस्वरूप आपने ही हमें बताया है। अन्तर्दृष्टि से उसका चिन्तवन आनन्द उत्पन्न करनेवाला है।

ज्ञानस्वरूप और अमल : हे प्रभो! आप पूर्ण ज्ञानस्वरूप हो और प्रत्येक आत्मा ज्ञानस्वरूप है – ऐसा आपने बताया है तथा आप ही कषाय-कलङ्क से रहित अमल, अर्थात् मलिनतारहित पवित्र हो। अहा! ज्ञान का पार नहीं और राग बिल्कुल भी नहीं; ज्ञान की पूर्णता और राग की शून्यता – ऐसा आपका स्वरूप हमारे आत्मा के शुद्धस्वरूप को प्रसिद्ध करके दिखाता है।

हे नाथ! योगी-सन्त इस प्रकार अनेक गुणों से आपको पहचान करके स्तुति करते हैं। मिथ्याबुद्धि जीव आपको नहीं पहचान सकते, इसलिए वे आपकी सम्यक् स्तुति भी नहीं कर सकते; धर्मात्मा-ज्ञानी-सन्त ही आपको पहचान कर आपकी सम्यक् स्तुति करते हैं। ●●

अल्पकाल में ही केवलज्ञान

लोग कहते हैं कि भगवान ने जैसा देखा होगा, उसी प्रकार सब होगा, हम क्या कर सकते हैं? भगवान ने अपने जितने भव देखे होंगे, उतने भव तो होंगे ही; किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि जिसके ज्ञान में भगवान विराजमान हैं, उसके अनन्त भव हो ही नहीं सकते। तीन लोक व तीन काल के ज्ञाता भगवान जिस भक्त के ज्ञान में विराजमान हैं, उसके भव की भीड़ होती ही नहीं।

- विषापहार प्रवचन, पृष्ठ-61

काव्य : 25

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्,
त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात्।
धाताऽसि धीर! शिव-मार्गविधे-र्विधानात्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन्! पुरुषोत्तमोऽसि॥ २५॥

ज्ञान पूज्य है, अमर आपका, इसीलिए कहलाते बुद्ध।
भुवनत्रय के सुख-सम्वर्द्धक, अतः तुम्ही शंकर हो शुद्ध॥
मोक्षमार्ग के आद्य प्रवर्त्तक, अतः विधाता कहें गणेश।
तुम सब अवनी पर पुरुषोत्तम और कौन होगा अखिलेश॥ २५॥

काव्य - 25 पर प्रवचन

देखो, यह ज्ञानी-मुनि द्वारा अरहन्त परमात्मा की स्तुति चल रही है। विद्वत्जनों से, अर्थात् आत्मज्ञ सन्तों द्वारा पूजित – ऐसे हे जिन परमात्मा! केवलज्ञान-बुद्धिरूप सर्वोत्कृष्ट बोध के कारण आप ही 'बुद्ध' हो अथवा बुद्धिमान इन्द्रादि द्वारा पूज्य होने के कारण आप बुद्ध हो। तीन लोक के लिए शं-कर, अर्थात् कल्याण का कारण होने से वास्तव में आप ही 'शङ्कर' हो।

हे धीरपुरुष! मोक्षमार्ग की विधि का विधायक होने से आप ही 'विधाता' हो, अर्थात् मोक्षसुख का निर्माण करने से आप 'ब्रह्मा' हो। हे भगवान! प्रसिद्धरूप से आप ही पुरुषोत्तम... सर्वोत्कृष्ट पुरुष... परमात्मा हो। आपका ऐसा सम्यक् स्वरूप पहचानकर हम विबुधजन आपको ही शङ्कर-बुद्ध-विधाता -ब्रह्मा या पुरुषोत्तमरूप में मानकर उपासना करते हैं। इससे विपरीत स्वरूपवाले क्रोधी-मोही-रागी-द्वेषी किन्हीं जीवों की उपासना हम नहीं करते, उन्हें भगवानरूप में स्वीकार नहीं करते।

बुद्ध : हे जिनेश! केवलज्ञानरूप सर्वोत्कृष्ट बुद्धि के स्वामी होने से आप ही 'बुद्ध' भगवान हो। एक-एक समय में उत्पाद -व्यय-ध्रौव्यरूप वस्तु को आप ही केवलज्ञान से जानते हो; अन्य जीव भले ही सर्वज्ञ होने का मिथ्या अभिमान करते हों, परन्तु वस्तु को एकान्त-कूटस्थ अथवा एकान्त क्षणभङ्गुर माननेवाले, वे कोई बुद्ध नहीं हैं, उन्हें वस्तुस्वरूप का सच्चा ज्ञान नहीं है; इस कारण वे अबुध हैं। इन्द्र-चक्रवर्ती-गणधर आदि विद्वान-आत्मज्ञ-विबुधजन आपको बुद्ध के रूप में पूजते हैं।

शङ्कर : बुद्ध, शङ्कर आदि नाम पढ़कर भड़कना नहीं, क्योंकि यह तो अरहन्तदेव के गुणवाचक नाम हैं। अरहन्त परमात्मा ही सच्चे शङ्कर, अर्थात् कल्याण करनेवाले हैं। भगवान का उपदेश कल्याणमार्ग-मोक्षमार्ग दिखाकर तीन लोक का हित करनेवाला है। भगवान स्वयं न तो किसी स्त्री में ललचाते हैं और न उन्होंने किसी के प्रति क्रोध किया। जो स्त्री में मोहित हो, क्रोध-कषाय से किसी को जला दे, उसे शङ्कर कौन कहेगा? जिसने स्वयं सर्वज्ञ वीतराग होकर, अपना कल्याण किया और कल्याण का मार्ग बताकर तीन लोक के जीवों के हित का कारण हुए, ऐसे हे जिनेन्द्रदेव! आप ही हमारे शं-कर भगवान हो, कल्याण करनेवाले हो।

धीर : हे देव! आप परम धीर हो। तीन काल को एकसाथ जानने के कारण आपका ज्ञान धीर है - शान्त है, उसमें रञ्चमात्र भी आकुलता नहीं है। जगत् के सुख में आप ललचाते नहीं हो, जगत् के जीवों का दु:ख देखकर आपका धैर्य कम नहीं होता, आपको खेद नहीं होता। ऐसा वीतरागी धैर्य आपके अतिरिक्त अन्य किसी में नहीं है।

ब्रह्मा-विधाता : मोक्षमार्ग का विधान बतानेवाले विधाता आप ही हो। सृष्टि का उत्पादक तो कोई ब्रह्मा या विधाता है ही नहीं, परन्तु भव्यजीवों की पर्याय में मोक्षमार्गरूप सृष्टि, अर्थात् पर्याय को रचनेवाले विधाता आप ही हो; इसलिए आप ही ब्रह्मा हो। सच्चा भगवान किसी अन्य जीव का कर्ता नहीं है परन्तु मोक्षमार्ग की विधि बतायी, इस अपेक्षा से वे विधाता

हैं। हे देव! आपके द्वारा मोक्षमार्ग की विधि जानकर हमने अपने आत्मा में उसकी रचना की है, उसमें आप उपकारी हो। इस प्रकार स्वयं मोक्षमार्ग के उपासक होते हुए साधक जीव, सर्वज्ञा भगवान की स्तुति करते हैं।

पुरुषोत्तम : सर्व पुरुषों में श्रेष्ठ तीर्थङ्कर परमात्मा आप ही हो। हे देव! आप ही मोक्ष का श्रेष्ठ पुरुषार्थ करनेवाले पुरुषोत्तम हो।

इस प्रकार अन्य कुदेवों का निराकरण करके, सम्यक् गुणों से भगवान का स्वरूप पहचानकर, उनकी स्तुति की है। अब, गुणस्वरूप से भगवान को पहचानकर अगले श्लोक में अत्यन्त बहुमानपूर्वक बारम्बार नमस्कार करते हैं। ●●

केवलज्ञान की सामर्थ्य

केवलज्ञान की एक समय की पर्याय की कितनी सामर्थ्य है, उसका विचार करने से विकल्प का अभाव होकर निर्विकल्पता हो जाती है। विकल्पातीत चैतन्य की अपार महिमा है। जिस ज्ञान में अपनी सामर्थ्य की प्रतीति आती है, वह ज्ञान अल्पकाल में केवलज्ञानरूप परिणत हो जाता है। वर्तमान में भले ही अल्प भावश्रुतज्ञान हो, तथापि उसकी प्रतीति में अनन्त ज्ञान का माहात्म्य स्थापित हो जाता है।

– विषापहार प्रवचन, पृष्ठ-63

काव्य : 26

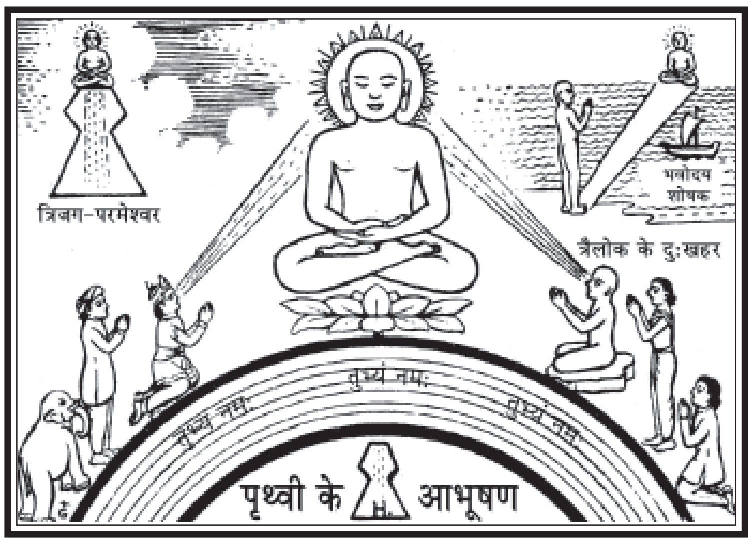

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्ति हराय नाथ!
तुभ्यं नमः क्षिति तलामलभूषणाय।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय,
तुभ्यं नमो जिन-भवोदधि शोषणाय॥ २६॥

तीन लोक के दुःखहरण करनेवाले हे तुम्हें नमन।
भूमण्डल के निर्मल-भूषण आदि जिनेश्वर तुम्हें नमन॥
हे त्रिभुवन के अखलेश्वर हो, तुमको बारम्बार नमन।
भव-सागर के शोषक-पोषक, भव्यजनों के तुम्हें नमन॥ २६॥

काव्य - 26 पर प्रवचन

देखो तो सही, भक्त का भगवान के प्रति बहुमान! परमात्मा को बारम्बार नमस्कार करके, उस परमात्मपद की ओर अपनी परिणति को झुकाया है। जो स्वयं साधु हैं – परमेष्ठीपद में वर्तते हैं – ऐसे मानतुङ्ग मुनि, यह सर्वज्ञ परमात्मा का स्तवन कर रहे हैं; इसमें साधक के अन्दर की भक्ति का नाद गुञ्जायमान है। ऐसी भक्ति करते-करते भक्तजन, भव के बन्धन को भी तोड़ डालते हैं, वहाँ बाहर की बेड़ी या ताले टूट जाएँ – तो इसमें क्या आश्चर्य है? साधक जीवों को किसी को पुण्य की उदीरणा होने पर उपसर्ग दूर हो जाते हैं, परन्तु धर्म के फल में बाहर के अनुकूल विषयों धन-पुत्र-स्त्री आदि की याचना करना तो पाप है – निदानशल्य है; धर्मी-जिज्ञासु को वैसी आशा नहीं होती। उसे तो प्रभु के समान परमात्मपद को प्राप्त करने की ही भावना है – ऐसी भावना से वह बारम्बार प्रभु को नमस्कार करता है।

हे देव! वीतरागता के उपदेश द्वारा दु:ख को दूर करनेवाले और सुख की प्राप्ति करनेवाले आप ही हमारे नाथ हो; आपके निमित्त से हमारे दु:ख का समय टल गया और सुख का अवसर आया... इसलिए आपको नमस्कार हो। हमारे सम्यक्त्वादि के रक्षक और चारित्र के पोषक – ऐसे हे वीतराग देव! आप ही हमारे स्वामी और इष्टदेव हो; अन्य किन्ही रागी-द्वेषी जीवों को हम इष्टदेव या स्वामी नहीं मानते और उन्हें नमस्कार भी नहीं करते।

हे देव! आप ही इस पृथ्वी के सर्वज्ञता और वीतरागता

से शोभायमान निर्मल आभूषण हो, आपके कारण ही यह धरती सुशोभित हो रही है। राग-द्वेष से दुनिया सुशोभित नहीं होती, वीतरागता से ही दुनिया सुशोभित होती है। इसलिए दुनिया में सर्वोत्कृष्ट शोभायमान, हे देव! आपको नमस्कार करता हूँ... मुझे भी आपके जैसी पवित्र वीतरागता ही अच्छी लगती है; मैं उसका ही आदर करता हूँ।

जब बाहर में भी तीर्थङ्कर का जन्म होता है, तब तीन लोक के दुःख-असाता दो घड़ी के लिए दूर हो जाते हैं और सर्व जीवों को शान्ति मिलती है। तीर्थङ्कर का सुन्दर रूप तीन लोक में श्रेष्ठ है; इसलिए भगवान त्रिभुवन के दुःख दूर करनेवाले है और तीन लोक के अलङ्काररूप हैं।

हे देव! स्वर्ण, चाँदी या रत्नों के गहने (आभूषण) से किसी जीव की वास्तविक शोभा नहीं है परन्तु आपके मार्ग में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही जीव की वास्तविक शोभा है। जीव, ज्ञान से शोभायमान होता है, राग से नहीं। हे सर्वज्ञदेव! आप हमारे हृदय के हार हो, आप हमारे अन्तर में विराजमान होने से हमारा आत्मा भी सम्यक्त्वादि से शोभायमान हो उठा है; इसलिए निर्मल आभूषणरूप – ऐसे आपको नमस्कार हो।

'सर्वज्ञ, धर्म के मूल है' – ऐसा कहा है; इसलिए सर्वज्ञ की श्रद्धा से ही धर्म सुशोभित है। जहाँ सर्वज्ञ की श्रद्धा नहीं है, वहाँ धर्म सुशोभित नहीं होता; इसलिए वहाँ सच्चा धर्म या मोक्षमार्ग होता ही नहीं। सर्वज्ञ की श्रद्धा, वह साधक के हृदय की शोभा है। सर्वज्ञ की श्रद्धारहित देवपद भी सुशोभित नहीं

होता। प्रभो! हमारे हृदय में आप सुशोभित हो; इसलिए अब हमें देवपद, राग या जगत् के कोई विषय आकर्षित नहीं कर सकते हैं, उनमें हमें शोभा नहीं लगती है। हे वीतरागदेव! हमारी शोभा तो आप से ही है, अर्थात् आपके द्वारा बताये गये वीतरागभाव से ही है – ऐसे स्वीकारपूर्वक हम आपको प्रणाम करते हैं।

महान् स्तुतिकार श्री समन्तभद्रस्वामी कहते हैं – हे भगवान! आप मोक्षमार्ग के नेता हो, कर्मरूपी पर्वतों को तोड़नेवाले हो और समस्त तत्त्वों के ज्ञाता हो; उन गुणों की प्राप्ति के लिए मैं आपकी वन्दना करता हूँ।

तब मानों भगवान उनसे पूछते हैं कि हे भद्र! स्तुति में हमारे दिव्य समवसरण, देवों के आगमन, आकाश में गमन, छत्र-चँवर आदि वैभव का तो तुमने स्तवन ही नहीं किया?

तब समन्तभद्र उत्तर देते हैं कि हे नाथ! क्या देवों का आगमन, आकाश में चलना या चँवर आदि वैभव के कारण आप हमारे मन को पूज्य हो? क्या उनके कारण आपका महत्त्व है? – नहीं, नहीं; प्रभो! ऐसा तो कोई मायावी भी दिखा सकता है। प्रभो! हम तो आपके सर्वज्ञता-वीतरागता आदि गुणों को पहचानकर आपका स्तवन करते हैं।

'देवागम नमोयान चामरादि विभूतयः,
मायाविण्वपि दृश्यते नातः स्वमसि नो महान्॥'

देखो, इस सर्वज्ञ की स्तुति में भी भक्त का भेदज्ञान! तीर्थङ्कर प्रभु के (दीक्षा लेने के पूर्व) पहनने के लिए वस्त्र और आभूषण की व्यवस्था इन्द्र, स्वर्ग से करते हैं परन्तु भक्त कहता है – हे देव! देवलोक के उन अलङ्कारों से आत्मा की

शोभा नहीं है; आत्मा की शोभा तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभाव से ही है। भगवान स्वयं पहले से ऐसा जानते हैं; फिर जब वैराग्य धारण कर दीक्षा अङ्गीकार करते हैं, तब शुद्धोपयोगसहित रत्नत्रय से आत्मा शोभायमान हो उठता है और केवलज्ञान होते ही आत्मा त्रिभुवन में सर्वोत्कृष्टरूप से शोभित होता है। प्रभो! ऐसी शोभावाला आपको पहचान कर स्तवन करते ही हमारा आत्मा भी सम्यक्त्वादि गुणों से शोभायमान हो गया है। हम केवलज्ञान से सुशोभित आपको प्रणाम करते हैं.... नमस्कार के बहाने हम अन्तर स्वभाव में ढलते हैं। अब, हम राग की ओर झुकें या किसी कुदेव को हमारा नमस्कार हो – ऐसा कभी नहीं होगा।

परमेश्वर : हे देव! सर्वज्ञता और वीतरागता से सुशोभित आप ही तीन लोक के परमेश्वर हो। अनन्त ज्ञान-अतीन्द्रिय सुख आदि अनन्त गुणों के वैभवरूप ऐश्वर्य आपके पास ही हैं, इसलिए जगत् में आप ही परम ईश्वर हो; आपको ही हमारा आत्मा नमस्कार करता है।

हे भवसमुद्र के शोषणहार जिन! अनादि का जो भवसमुद्र है, उसे आपने सुखा दिया है, आप स्वयं भव से रहित हुए हो और मोक्ष का मार्ग बताकर हमें भी भव से रहित कर दिया है। भव के नाश का और मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग बतानेवाले आप ही हो। अहा! आपको प्राप्तकर हम भवसमुद्र से तिर गये – ऐसी प्रसन्नतापूर्वक बारम्बार आपको नमस्कार करते हैं।

इस प्रकार अनेक विशेषणोंपूर्वक स्तुति करके भगवान को नमस्कार किया है। ●●

काव्य : 27

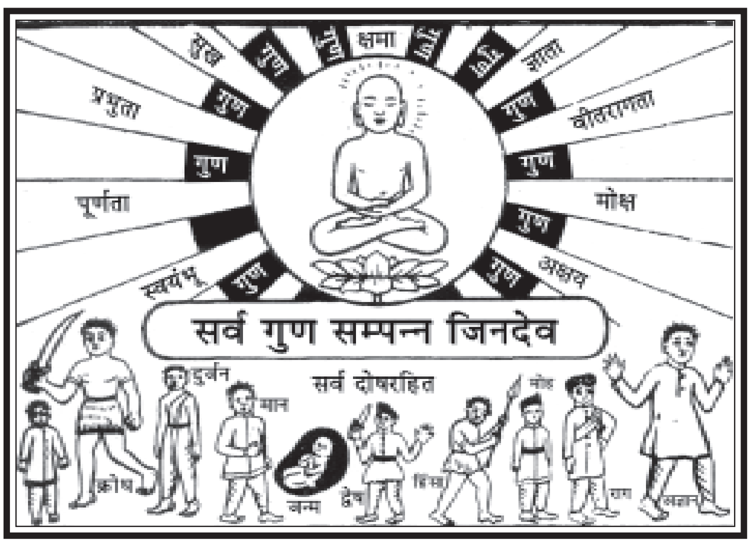

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै,
स्त्वं संश्रितो निरवकाश तया मुनीश।
दोषै-रुपात्त विविधाश्रय-जातगर्वै,
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि॥ २७॥

गुण समूह एकत्रित होकर, तुझमें यदि पा चुके प्रवेश।
क्या आश्चर्य न मिल पाये हों, अन्य आश्रय उन्हें जिनेश॥
देव कहे जाने वालों से, आश्रित होकर गर्वित दोष।
तेरी ओर न झांक सके वे, स्वप्नमात्र में हे गुणकोष॥ २७॥

काव्य - 27 पर प्रवचन

हे मुनीश! आप सर्वगुण सम्पन्न और सर्व दोषों से रहित हो – इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि मैं समझता हूँ कि सर्वज्ञता–वीतरागता आदि गुणों को अन्यत्र रागी–द्वेषी जीवों में कही रहने का स्थान नहीं मिला, एकमात्र आप में ही उन गुणों को आश्रय मिला; इसलिए सभी गुण आप में ही विद्यमान हैं।

हे देव! आप में इतने अधिक गुण विद्यमान हैं कि अब उनमें दोषों को रहने का कोई स्थान नहीं रहा; इसलिए क्रोधादि किसी दोष को आपने आश्रय नहीं दिया। आपने उनका अनादर किया, फिर भी उन्हें तो जगत् के रागी–द्वेषी–मोही अनेक जीवों में आश्रय मिल गया; इसलिए अभियान के कारण कोई भी दोष स्वप्न में भी कभी आपके पास दिखायी नहीं देते; इस कारण आप सर्व गुणों से पूर्ण हो और सर्व दोषों का आप में अभाव है। इस प्रकार भगवान की स्तुति करके, भक्त–साधक स्वयं में गुणों को आश्रय देता है और दोषों का अनादर करता है। यह भक्ति, गुण–दोष के बीच भेदज्ञानपूर्वक है।

हे देव! आप गुणों के ही भण्डार हो और दोषों को दूर करनेवाले हो, आपमें गुण देखकर हमें प्रमोद आता है, इसलिए हम आपका भजन करते हैं। अन्य कुदेवों में तो क्रोधादि कोई न कोई दोष दिखते हैं, इसलिए हमारा हृदय उनके समक्ष नहीं झुकता। हम गुणों से प्रेम और दोषों को दूर करना चाहते हैं।

प्रभो! आपने इतने अधिक गुणों को आश्रय दिया कि आप सर्व गुणों से परिपूर्ण हो गये। (प्रभु मेरे.... तू सब बातें पूरा।)

अब, आप में दोषों के रहने का कोई स्थान नहीं रहा, इसलिए दोष तो आपके पास फटकते भी नहीं हैं। आप में से दोष तो दूर हुए ही हैं, आपके समीप आनेवाले जीवों से भी दोष दूर भागते हैं और गुण उनके पास दौड़कर आते हैं। देखो, इसमें भक्ति का फल भी बता दिया है। **दोषों की हानि और गुणों की वृद्धि ही सच्ची भक्ति का फल है।** श्रावक और श्रमण ऐसी भक्ति करते हैं।

प्रभो! आप में सर्वज्ञता आदि गुण देखकर हमें आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि वे महान गुण आपके जैसे पवित्र पुरुष में नहीं हों तो अन्य कहाँ होंगे? वे आप में ही सुशोभित होते हैं; अन्य किसी मोही-अज्ञानी जीव में सर्वज्ञता आदि गुण नहीं रह सकते और कोई दोष आपके पास नहीं आते क्योंकि दोष के रहने के लिए आप, अपने में जरा भी स्थान नहीं देते; इसलिए वे बिचारे आश्रयरहित होकर संसार में यहाँ-वहाँ भटकते हैं।

इस कथन में यह सिद्धान्त आया कि सम्यक्त्वादि गुणों का ही आश्रय होने का आत्मा का स्वभाव है; रागादि किसी दोष का आश्रय हो – ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है, वे तो पराश्रितभाव हैं। ऐसा समझकर हे देव! हम स्वभाव के आश्रय से गुण प्रगट करते हैं और पराश्रित दोषरूप भावों को आत्मा से दूर करते हैं – यही आपकी परमार्थभक्ति है। जिन्हें रागादि दोषों में आदरबुद्धि है, वे जीव, स्वप्न में भी आपको देख नहीं सकते, आपकी सच्ची भक्ति नहीं कर सकते और आत्मा का अनुभव नहीं कर सकते।

मिथ्यात्व-अज्ञान-क्रोधादि दोष, प्रभु के सामने भी क्यों नहीं देखते? – क्योंकि उन दोषों को ऐसा गर्व हो गया है कि 'भले ही सर्वज्ञ-अरहन्तदेव ने हमें आश्रय नहीं दिया परन्तु जगत् में दूसरे अनन्त जीव तो हमारा आदर करनेवाले हैं।' – ऐसे अभिमान के कारण वे दोष, भगवान के समक्ष नहीं देखते। भगवान के सन्मुख देखने जाएँ तो भगवान का ऐसा प्रताप है कि वे दोष, नाश को प्राप्त हो जाते हैं। भगवान में दोष नहीं होते और जहाँ दोष है, वह भगवान नहीं है।

'हे सर्वज्ञ! आप में गुण ही ठसाठस भरे हुए हैं; इसलिए आप हमें (दोषों को) रहने का स्थान नहीं देते परन्तु हमें आपकी परवाह नहीं है क्योंकि जगत् में अनन्त जीव हमें स्थान और आदर देनेवाले हैं; एक आप स्थान नहीं दोगे तो इससे क्या हो गया?' इस प्रकार आपके द्वारा अनादर प्राप्त कर, अपमानित हुए मोहादि दोष, गर्व के कारण आपके सन्मुख भी नहीं देखते। कुदेव-कुगुरु आदि संसारमार्गी जीव तो क्रोधादि दोषों को आदरपूर्वक स्थान देकर पुष्ट करते हैं; इसलिए वे उन जीवों में मौज करते हैं; उन्हें छोड़कर वे दोष आपके समीप भी नहीं आते – परन्तु इसमें हमें कोई आश्चर्य नहीं लगता क्योंकि जहाँ अनादर होता है, वहाँ कौन जाएगा? इसलिए दोष आपके पास नहीं आते।

और हे देव! आपने तो दोषों को अपने में जरा-सा भी अवकाश नहीं देकर, आत्मा में से उनको निकालकर उनका गर्व चूर-चूरकर दिया है; इसलिए वे दोष आपके विरोधी कुदेवों

की शरण में चले गये और आप में तो मात्र गुण ही शेष रह गये हैं। इस प्रकार अलङ्कार से सर्वज्ञदेव में दोषों का अभाव और गुणों की पूर्णता बताकर उनकी भावस्तुति की है; साथ ही कुदेवों को दोषों का आयतन और गुणों की अनायतन सिद्ध किया है।

हे जिन! दोषों का आधार तो जगत् में बहुत है, परन्तु गुणों का आधार तो आप एक ही हो। जो जीव, राग में धर्म मानते हैं, वे दोष को आधार देते हैं। ऐसे अज्ञानी जीवों में सर्वज्ञता-वीतरागता आदि गुणों को रहने के लिए स्थान नहीं मिला, इसलिए वे सब गुण आप में आकर रहने लगे। ●●

वह महामूर्ख है

आपकी निर्मल परिणति, द्रव्य में से प्रगट हुई है — इस कारण द्रव्य ही आपका कुल है। शारीरिक सम्बन्धों से आपकी पहिचान करनेवाले आपकी पहिचान की विधि से अनभिज्ञ हैं।

यदि कोई हस्तगत सुवर्ण को यह कहकर फेंक दे कि यह तो पत्थर की खान में से उत्पन्न हुआ है तो वह महामूर्ख है। उसी प्रकार जो शरीर के कुल से आपकी पहिचान कराये किन्तु निर्मलानन्द चैतन्यधातु में से आपकी निर्मल पर्याय प्रगट हुई है, उस कुल को नहीं पहिचाने तो वह भी महामूर्ख है, अज्ञानी है। अचिन्त्य प्रभु अनादि-अनन्त स्वयंसिद्ध ही सर्वज्ञ का 'कुल' है; अत: जो भगवान के शरीर की ही स्तुति करते हैं और शरीर से ही भगवान की पहिचान कराते हैं, वे बड़ी भ्रान्ति में हैं क्योंकि आपकी स्तुति तो आपके गुणों से है। *- विषापहार प्रवचन, पृष्ठ-82*

काव्य : 28

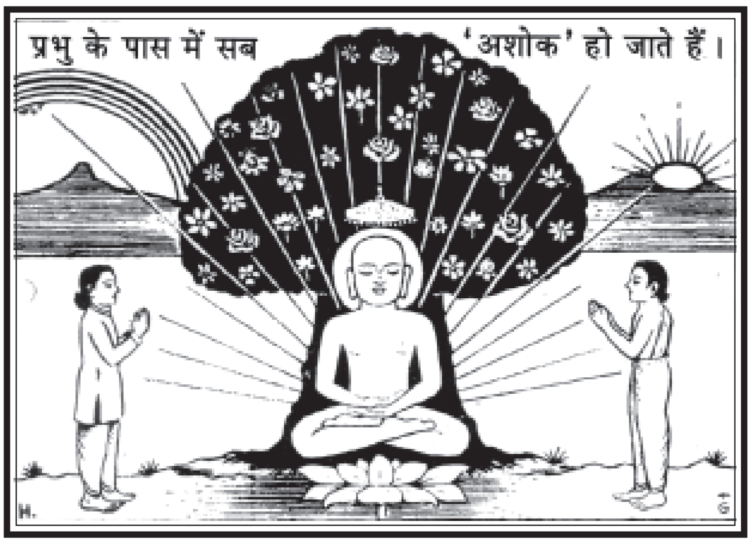

उच्चैरशोकतरुसंश्रितमुन्मयूख-
माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम्।
स्पष्टोल्लसत्किरण मस्ततमोवितानं,
बिम्बं रवेरिवपयोधर पार्श्ववर्ति॥ २८॥

उन्नत तरु अशोक के आश्रित, निर्मल किरणोन्नतवाला।
रूप आपका दिखता सुन्दर, तमहर मनहर छविवाला॥
वितरण किरण निकरत महारक, दिनकर घन के अधिक समीप।
नीलाचल पर्वत पर होकर, नीराजन करता ले दीप॥ २८॥

काव्य - 28 पर प्रवचन

हे प्रभो! समवसरण में अशोकवृक्ष के नीचे विराजमान आपका निर्मल तेजस्वी रूप, उस वृक्ष को भेदकर ऊपर उल्लसित किरणों द्वारा अत्यन्त शोभायमान हो रहा है। जैसे, घनघोर बादल के बीच उदित सूर्य, ऊपर उठते अपनी जगमगाती स्वर्णिम् किरणों से शोभायमान होता है और समस्त अन्धकार को नष्ट करता है; वैसे ही आप शोभायमान हो रहे हैं और उदयभावों के बीच भी आपका केवलज्ञान, क्षायिकभाव से सुशोभित हो रहा है।

तीर्थङ्कर भगवान समवसरण में विराजमान होते हैं, तब उनके ऊपर शरीर से बारह गुना ऊँचा दिव्य अशोकवृक्ष होता है। यह वृक्ष कोई वनस्पतिकाय का पेड़ नहीं, अपितु दिव्य पुद्गलों की ऐसी सुन्दर रचना है। उस पेड़ की छाया को भेदकर प्रभु के दिव्यरूप में से चमकती किरणें ऊँचे आकाश में व्याप्त होती हैं, उनका दिखाव अत्यन्त सुन्दर लगता है। अथवा जैसे, सघन बादलों के पानी के बीच से प्रसारित सूर्य की किरणों के प्रकाश से सप्तरङ्गी सुन्दर मेघधनुष की रचना होती है; वैसे ही आशोकवृक्ष की छाया को भेदकर ऊपर फैलती आपके मुखमण्डल की तेजस्वी किरणों से ऊँचे आकाश में सुन्दर प्रकाश फैलता है और अन्धकार दूर होता है।

तीर्थङ्कर प्रभु के अतिशयरूप जो आठ प्रातिहार्य, उसमें प्रथम यह अशोकवृक्ष है। यहाँ उसके वर्णन द्वारा प्रभु की स्तुति की गयी है। प्रभु की अन्तर्विभूति तो केवलज्ञान आदि चैतन्यगुण

हैं और उनके साथ तीर्थङ्कर प्रभु की ऐसी अद्‌भुत बाह्य विभूति होती है।

यद्यपि आत्मा और शरीर भिन्न है, फिर भी आश्चर्य है कि जहाँ आत्मा पूर्ण शुद्ध हुआ, वहाँ शरीर भी शुद्ध (मलिनतारहित) हो गया; आत्मा में केवलज्ञानमय चैतन्यप्रकाश विकसित हुआ, वहाँ साथ ही शरीर भी अलौकिक प्रकाश से खिल उठा – ऐसा ही प्रकृति का सुमेल है। तथा आस-पास भी जो दिव्य रचना होती है, उसमें दिव्य अशोकवृक्ष को देखकर भक्त कहता है कि हे प्रभो! इसमें हमें आपका ही प्रताप दिखायी देता है। आप अन्धकार का नाश करनेवाले हो; मानों बादलों के मध्य जगमगाता सूर्य उदित होता है, वैसे ही अशोकवृक्ष की हरित छाया को भेदकर आपके शरीर में से चमकती किरणें आकाश में फैल रही हैं और अतिशय सुशोभित हो रही हैं।

कल्याण-मन्दिर स्तोत्र में अलङ्कारिक वर्णन करते हुए कहते हैं कि हे देव! आपकी दिव्य प्रभा के तेज के सामने यह अशोकवृक्ष भी निस्तेज-रङ्गरहित-निरागी बन गया तो फिर आपके सान्निध्य में चेतनवन्त जीव, निरागता-वीतरागता को क्यों प्राप्त नहीं करेगा? आपका उपदेश, जीवों को वीतरागता कराता है और राग का रङ्ग उड़ा देता है।

हे प्रभो! आपके समीप प्रसन्नता से खिल रहा यह 'अशोक' वृक्ष देखते ही हमें तो ऐसा लगता है कि अहा! परमात्मा की समीपता प्राप्त कर यह वृक्ष भी अ-शोक, अर्थात् शोकरहित होकर प्रसन्नता से खिल उठा है तो फिर हमारे जैसे चेतनवन्त

जीव, शोकरहित, अर्थात् अ-शोक क्यों नहीं होंगे? प्रभो! आपका सान्निध्य प्राप्तकर हम भी प्रसन्नता से आनन्दित होकर खिल उठे हैं। आपके समीप का वृक्ष 'अशोक' हुआ तो आपके समीप आये हुए भव्य जीव, 'अशोक' हो जाएँ – इसमें क्या आश्चर्य है।

धर्मोपदेश करता जब तू जनों की-
क्या बात नाथ! बनता तरु भी अशोक।
होता प्रकाश जब सूरज का नहीं क्या,
पाता प्रबोध तरुसंयुत जीवलोक?॥

(- कल्याण मन्दिर स्तोत्र - 19)

वाह, देखो तो सही, भगवान को देखकर भक्त का हृदय कैसा खिल उठा है! अन्तर में सम्यक्त्वादि से आत्मा खिल उठा है, वहाँ भगवान के प्रति ऐसी भक्ति के भाव उल्लसित होते हैं। अज्ञानी को आत्मा तो समझ में नहीं आया, परन्तु परमात्मा की सच्ची भक्ति करना भी नहीं आया।

अशोकवृक्ष एक आश्चर्यकारी रचना है; उसकी ऊँचाई तीर्थङ्कर प्रभु के शरीर प्रमाण से बारह गुनी होती है। श्री ऋषभदेव भगवान का शरीर 500 धनुष ऊँचा था, उससे बारह गुना, अर्थात् 6000 धनुष; (अर्थात् 60,000 फुट, अर्थात् आज के हिमालय पर्वत से भी अधिक ऊँचा), वह अशोकवृक्ष है। अभी के जीवों को यह बात आश्चर्यकारी लगती है। ऋषभदेव भगवान के समय में सभी रचनाएँ महान थीं, परन्तु फिर अवसर्पिणी काल के कारण उनमें अनुक्रम से हीनता होती चली गयी। अभी तो भरतक्षेत्र में समवसरण की शोभा भी देखने नहीं मिलती;

फिर भी मानो असंख्य वर्षों पहले के ऋषभदेव भी अभी समवसरण में साक्षात् विराजते हों और स्वयं उनके सन्मुख स्तुति करते हों – ऐसे अद्भुत भाव इस स्तोत्र में भरे हुए हैं।

तीर्थङ्कर केवली भगवान, साधारण मनुष्यों की भाँति नीचे पृथ्वी पर विचरण नहीं करते या जमीन पर नहीं बैठते; अन्दर निरालम्बी होकर भगवान, आकाश में पाँच हजार धनुष ऊँचे विहार करते हैं और समवसरण में दिव्य गन्धकुटि पर (उसे भी बिना स्पर्श किये) चार अङ्गुल ऊँचे निरालम्बीरूप से विराजमान हैं। वाह! केवली भगवान का अन्तरङ्ग वैभव तो अलौकिक है ही, बाह्य विभूति भी अलौकिक होती है। प्रभु को देखकर भव्यजीव का अन्तर भी खिल उठता है। वे कहते हैं – वाह प्रभो! आप जगत् से भिन्न जाति के हो, तो आपके प्रति हमारी भक्ति का भाव भी लोगों की अपेक्षा भिन्न जाति का है।

यह भी एक आश्चर्य है कि अद्धर आकाश में जमीन या मूलरहित इतना बड़ा पेड़ (अशोकवृक्ष) किस प्रकार उगा? यह तो प्रभु का ही अतिशय है! प्रभु को आत्मा में से महान केवलज्ञान विकसित / प्रगट होने के लिए बाहर के किसी साधन की आवश्यकता नहीं पड़ी; वे स्वयंभूरूप से स्वयं ही केवलज्ञानरूप प्रगट हुए, परिणमित हुए हैं – यह जगत् का सबसे महान आश्चर्य है।

इस प्रकार अशोकवृक्ष के कथन द्वारा परमात्मा के गुणों का स्तवन किया।

[इति प्रथम प्रातिहार्य अशोकवृक्ष का वर्ण पूर्ण हुआ।] ●●

काव्य : 29

सिंहासने मणिमयूख-शिखाविचित्रे
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम्।
बिम्बं वियद्विलसदंशुलता - वितानं
तुङ्गोदयाद्रिशिरसीव सहस्ररश्मेः॥ २९॥

मणि मुक्ता किरणों से चित्रित, अद्‌भुत शोभित सिंहासन।
कान्तिमान कंचन सा दिखता, जिस पर तव कमनीय वदन॥
उदयाचल के तुङ्ग शिखर से, मानो सहस्त्र रश्मिवाला।
किरण-जाल फैलाकर निकला, हो करने को उजियाला॥ २९॥

काव्य - 29 पर प्रवचन

तीर्थङ्कर भगवान के आठ प्रातिहार्य-अतिशय हैं, उनमें दूसरा सिंहासन है, उसका यह वर्णन है।

सिंहासन पर विराजमान प्रभु को देखकर स्तुतिकार कहते हैं कि हे देव! जैसे सुवर्णाचल पर्वत पर उदित सूर्य, अपनी हजारों स्वर्णिम किरणोंसहित आकाश में सुशोभित होता है, वैसे ही दिव्य मणि-रत्नों की किरणों से जगमगाते स्वर्ण के सिंहासन पर स्वर्ण-शरीरवाले आपको विराजमान देखकर भव्य जीवों का चित्त प्रसन्नता से खिल उठता है।

समवसरण के मध्य मणिरत्नों से जड़ित दैवीय सिंहासन है; उस पर गन्धकुटीरूप कमल की रचना है, उसकी शोभा आश्चर्यकारी है। उस कमल पर भगवान विराजमान होने से उसे 'कमलासन' भी कहते हैं **(जय कमलासन... सुन्दर शासन भासत नभद्वय बोधवरं)** परन्तु विशेष आश्चर्य की बात यह है कि भगवान तो इस दिव्य-सिंहासन को या गन्धकुटि को स्पर्श किये बिना, उससे अलिप्त, चार अंगुल ऊपर आकाश में निरालम्बीरूप से विराजते हैं।

'जैसा निरालम्बन आत्मद्रव्य, वैसा निरालम्बन जिन-देहा।'

तीर्थङ्करदेव को आत्मा की पूर्ण पवित्रता के साथ पुण्य भी अतिशय-आश्चर्यकारी होता है। वे किसी के मकान में रहते हैं या उनके लिए किसी से आसन लाना पड़ता है और फिर अन्त समय में वापस सौंपना पड़ता है – ऐसी हीनपुण्यता उनकी नहीं होती। उनका श्रीविहार और आसन तो गगन में होता है

और उनके आस-पास सिंहासन आदि दिव्य वैभवों की रचना सातिशय पुण्ययोग से हो जाती है।

अहो परमात्मा! ऐसा उत्कृष्ट पुण्यफल का परिपाक और उसके बीच भी आप एकदम अलिप्त! ऐसी अद्‌भुत वीतरागता तो आप में ही सुशोभित होती है। आपके समीप में, अर्थात् शुद्धात्मा के समीप हमारे अन्तर में भी वीतरागता जाग उठती है। अहा! आत्मा का स्वभाव कैसा रागरहित सुशोभित होता है! पारसमणि का स्पर्श तो लोहे को मात्र सोना बनाता है (और वह भी यदि उसमें जंग न हो तो....!) परन्तु उसे अपने समान पारस नहीं बनाता, जबकि हे प्रभो! आपका स्पर्श, अर्थात् अनुभव तो हमें आपके जैसा परमात्मा बना देता है।

हे देव! आप हमें परमात्मपना देनेवाले महान दाता हो। अहा प्रभो! सिंहासन पर अलिप्त आपको देखते ही हमें तो ऐसा लगता है कि हमें मोक्ष का सिंहासन मिल गया हो, क्योंकि हमारे हृदय के सिंहासन में आप विराजमान हो; इसलिए हे नाथ! आपका ध्यान करते-करते हम भी आपके जैसे बन जाएँगे। इस प्रकार आपका भक्त आपके जैसा बन जाता है, इसलिए पारसमणि की अपेक्षा आपका समागम श्रेष्ठ है - '**वो लोहा कंचन करे, प्रभु करे आप समान...**' भगवान का भक्त, स्वयं भगवान बन जाता है – यह जिनशासन की बलिहारी है।

अहा प्रभो! आप सिंहासन को स्पर्श करके नहीं बैठते, उससे अद्धर अलिप्त विराजते हो, इससे हम ऐसा समझते हैं कि जिस सिंहासन को आपने छोड़ दिया, वह आपके पीछे

आता है; भले ही राजसिंहासन के बदले देवसिंहासन आया।

आप तो पुण्य और उसके फल का भी आदर नहीं करते। इस प्रकार पुण्य / राग का भी हेयपना प्रसिद्ध कर रहे हो। आप तो रागरहित मोक्षसिंहासन पर बैठनेवाले हो। राग, आत्मराजा के बैठने का पद नहीं है; आत्मराजा के बैठने का सिंहासन तो शुद्ध चैतन्य का बना हुआ है। हे जीवो! तुम शुद्ध चैतन्यरूप जिनपद में आरूढ़ होओ और राग से अलिप्त रहो – ऐसा भगवान प्रसिद्ध कर रहे हैं। ये राग-पुण्य के फल, भले ही संसार के अन्तिम छोर तक आत्मा के पीछे-पीछे आयें परन्तु मोक्ष में उनका प्रवेश नहीं है,क्योंकि वे आत्मा का निजपद नहीं है, अपद है – ऐसा, हे भव्य जीवो! तुम जानो, और शुद्ध चैतन्यमय निजपद में आरूढ़ होओ।

वीतराग की भावना से भक्त कहता है कि हे देव! आपकी शोभा कोई दिव्य सिंहासन के कारण नहीं है, अपितु आपकी निकटता के कारण सिंहासन की शोभा है। हमें सिंहासन की महिमा नहीं लगती, हमें तो सिंहासन से अलिप्त आपकी सर्वज्ञता की और वीतरागता की महिमा भासित होती है। इस प्रकार भक्त, सर्वत्र भगवान की महिमा को ही देखता है।

[आठ प्रातिहार्यों में से दूसरे सिंहासन प्रातिहार्य का वर्णन पूर्ण हुआ।] ●●

काव्य : 30

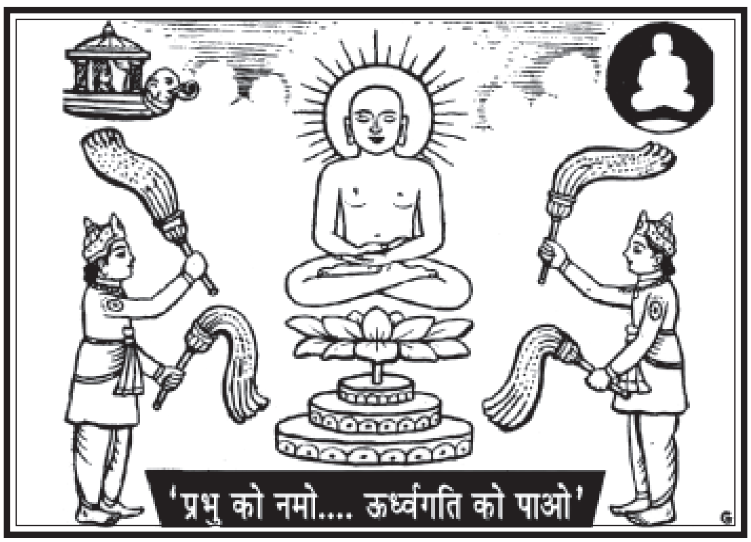

कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं,
विभ्राजते तव वपुः कलधौतकान्तम्।
उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्झरवारिधार-
मुच्चै स्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम्॥ ३०॥

ढुरते सुन्दर चँबर विमल अति, नवल कुन्द के पुष्प-समान।
शोभा पाती देह आपकी, रौप्य धवल-सी आभावान॥
कनकाचल के तुङ्ग शृंग से, झर-झर झरता है निर्झर।
चन्द्र-प्रभा सम उछल रही हो, मानो उसके ही तट पर॥ ३०॥

काव्य - 30 पर प्रवचन

यह तीसरे प्रातिहार्य (चँवर) के वर्णन द्वारा भगवान की स्तुति है।

हे देव! कुन्दपुष्प जैसे 64 चँवर से इन्द्र आपकी वन्दना करते हैं, तब आपका स्वर्णवर्ण श्वेत शरीर एकदम सुशोभित हो उठता है। कैसा सुशोभित होता है? जैसे पूर्णिमा के चन्द्रमा से झरती पवित्र जलधारा से सुमेरुपर्वत का स्वर्णिम शिखर सुशोभित होता है; वैसे ही देवों द्वारा ढुलते उज्ज्वल चँवर के समूहों के बीच आपका सुन्दर स्वर्णिम शरीर शोभायमान हो रहा है।

देखो, चँवर से शरीर की शोभा कही है; आत्मा तो केवलज्ञान-दर्शनरूप चैतन्यभाव से शोभायमान है – इस प्रकार धर्मी दोनों की भिन्नता को जानते हैं। जो जीव, देहाश्रित गुणों को ही देखता है अथवा अकेले पुण्य के बाह्य वैभव की महिमा में ही अटक जाता है, अर्थात् —

जो जिन देहप्रमाण और समवसरणादि सिद्धि,
वर्णन समझे जिन का, रोकी रहे निजबुद्धि।

– इस प्रकार बाहर में ही अटक जाता है और अन्दर के आत्माश्रित चैतन्य गुणों को नहीं पहचानता, उसे सर्वज्ञ की परमार्थ स्तुति करना नहीं आती। जो देहाश्रित गुणों तथा आत्माश्रित गुणों – इन दोनों की भिन्नता को पहचाने और उनमें से आत्मिकगुणों द्वारा सर्वज्ञदेव को पहचाने, तो उसे जड़-चेतन का भेदज्ञान और राग से भिन्न शुद्धात्मा का अनुभव होता है, और वह मोक्षसाधिका परमार्थभक्ति है, उसे ही 'निर्वाणभक्ति'

कहते हैं। यहाँ ऐसी भक्तिसहित की व्यवहारभक्ति का वर्णन है।

भगवान के आत्मा में आनन्द का झरना बहता है, उन्हें किसी चँवर-सिंहासन आदि का सुख नहीं है, तथापि पुण्ययोग से बाहर में ऐसा अद्‌भुत वैभव होता है, परन्तु अरे! आत्मा की चैतन्यविभूति के सामने बाहर की पुण्यविभूति की क्या गिनती है?

प्रभु को ढुलते चँवर, पहले नीचे झुककर फिर ऊपर आते हैं, वे यह दर्शाते हैं कि जो जीव, जिनचरणों में नम्रीभूत होता है, वह उच्चपद को प्राप्त करता है। यह बात कल्याण-मन्दिर स्तोत्र में आयी है —

हे नाथ! पूर नभ के उड़ते हुए ये;
मानो यही कह रहे सुर चामरौघ-
'जो हैं प्रणाम करते इस नाथ को हैं,
वे शुद्धभाव बन के गति उच्च पाते'॥

(- कल्याणमन्दिर स्तोत्र - 22)

नीचे झुककर ऊपर उछलते वे चँवर मानो ऐसा बोल रहे हैं कि हे जीवों! तुम्हें उच्चपद प्राप्त करना हो तो प्रभु के चरणों में भक्ति से झुक जाओ।

देखो, दृष्टि-दृष्टि में अन्तर है; सामान्य लोग चँवर की महिमा देखते हैं, वहाँ मुमुक्षु की दृष्टि में चँवर की नहीं, अपितु चँवर जिन्हें ढुलते हैं, उन भगवान की महिमा दिखायी देती है –

एक बार एक जैन विद्वान कोहीनूर हीरा देखने गये।

दूसरे ने उनसे पूछा – 'हीरा कैसा लगा?'

विद्वान ने उनसे प्रश्न किया – 'भाई! हीरा बहुमूल्य है

या आँख? – यदि आँख न हो तो हीरा को कौन देखेगा? इसलिए हीरे की अपेक्षा उसे देखनेवाली आँख अधिक कीमती है और ज्ञान के बिना यह आँख भी क्या करेगी; इसलिए ज्ञान ही बहुमूल्य है। देखो, अज्ञानी को परज्ञेय की महिमा भासित होती है परन्तु उसे जाननेवाले अपने ज्ञान की महिमा भासित नहीं होती। सर्वज्ञ की महिमा ज्ञान से है और ज्ञान से ही उनकी सच्ची महिमा समझ में आती है, राग से नहीं।

चौथे काल का प्रारम्भ होने से पहले भगवान ऋषभदेव इस भरतक्षेत्र में प्रथम तीर्थङ्कर हुए, उनकी यह स्तुति है। उस समय पूर्व के आराधक धर्मात्मा जीव भी इस भरतक्षेत्र में अवतरित होते थे, परन्तु पञ्चम काल प्रारम्भ होने के बाद कोई भी आराधक-सम्यग्दृष्टि जीव यहाँ अवतरित नहीं होते; इसलिए आराधना के साथ का उत्तम पुण्य भी इस काल में देखने को नहीं मिलता। हाँ, इतना अवश्य है कि पञ्चम काल अभी भी धर्मकाल है; धर्म का लोप नहीं हो गया है। समकित लेकर कोई जीव अभी यहाँ जन्म नहीं लेता – यह तो सत्य है परन्तु जन्म लेने के बाद सम्यग्दर्शन प्रगट कर सकता है। ऐसे आराधक जीव को धर्म के साथ जो पुण्य बँधता है, वह विशिष्ट, अर्थात् उत्तमजाति का होता है, उसे पूर्व के पाप का रस / अनुभाग भी कम हो जाता है और शुभकर्मों का रस बढ़ता जाता है। ऐसे आराधक जीव, भगवान के प्रति भक्ति-बहुमान से उल्लसित हो जाते हैं।

यहाँ भक्तामरस्तोत्र में आठ प्रातिहार्यों के वर्णनपूर्वक भगवान की स्तुति चल रही है, उसमें अशोकवृक्ष, सिंहासन और चँवर – इन तीन का वर्णन किया। ●●

काव्य : 31

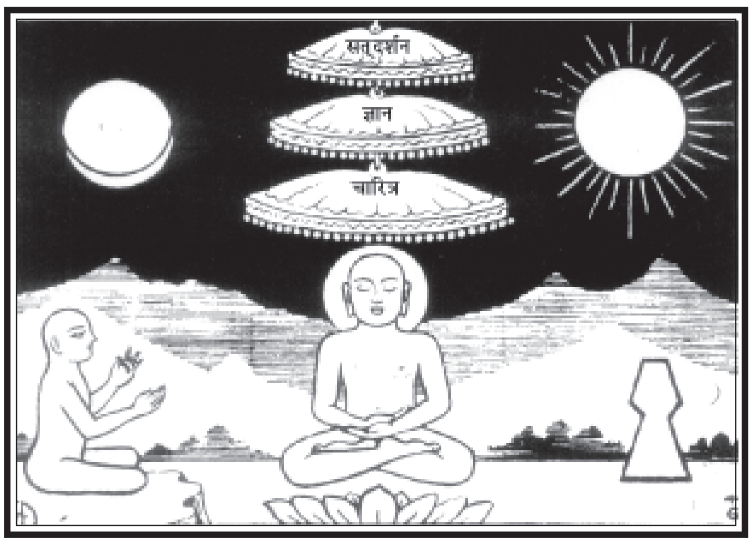

छत्रत्रयं तव विभाति शशाङ्ककान्तम्
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकर-प्रतापम्।
मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्ध-शोभं,
प्रख्यापयत्त्रिजगतः परमेश्वरत्वम्॥ ३१॥

चन्द्र-प्रभा सम झल्लरियों से, मणिमुक्तामय अति कमनीय।
दीप्तिमान् शोभित होते हैं, सिर पर छत्रत्रय भवदीय॥
ऊपर रहकर सूर्य-रश्मि का, रोक रहे हैं प्रखर-प्रताप।
मानो वे घोषित करते हैं, त्रिभुवन के परमेश्वर आप॥ ३१॥

काव्य - 31 पर प्रवचन

हे देव! जिसकी झालर में चन्द्रमा की चाँदनी जैसे मोती चमक रहे हैं – ऐसे अत्यन्त सुशोभित तीन छत्र, आपके तीन जगत् के परमेश्वरपने को प्रसिद्ध कर रहे हैं और सूर्य की किरणों के प्रताप को रोक रहे हैं।

अहो देव! आपके ऊपर झूलते अतिसुन्दर तीन छत्र यह सूचित करते हैं कि रत्नत्रय से इन भगवान ने तीन लोक का परमेश्वरपना प्रगट किया है। प्रभु के समक्ष चन्द्रमा भी हार गया, क्योंकि 'प्रभु का परमशान्त आत्मतेज तीन लोक को प्रकाशित करता है और भव के आताप को हरता है - फिर मेरा क्या काम!' इस प्रकार अपने अधिकार का हनन हो जाने से पराजित वह चन्द्रमा स्वयं तीन छत्र का रूप धारण करके प्रभु की सेवा कर रहा है – ऐसा हमें लगता है।

चन्द्रमा को शान्त गिना जाता है, परन्तु हे देव! आपकी परम शान्त-शान्त मुद्रा के समक्ष पराजित होकर वह चन्द्रज्योतिष इन्द्र, तीन छत्र का रूप धारण करके आपकी सेवा कर रहा है। वाह! तीन छत्र द्वारा भी कैसा अलङ्कार करके प्रभु का गुणगान किया है!!

प्रभो! इस छत्र द्वारा सूर्य का प्रताप रुक गया है; रत्नत्रय से आपने जहाँ भव का आताप दूर किया, वहाँ बाहर में सूर्य का आताप कैसा? जैसे, आपकी छत्रछाया में सूर्य के आताप का प्रवेश नहीं है; वैसे ही जिसने आपकी छत्रछाया का स्वीकार किया है, उस आत्मा में भवताप का प्रवेश नहीं होता।

अहा! आश्चर्य है कि आपके ऊपर जो तीन दिव्य छत्र हैं, वे सङ्कुल से कहीं टाँगे नहीं हैं, किसी ने छतरी की भाँति पकड़ा नहीं है, वे तो बिना आधार के आकाश में ऐसे ही लटके हुए हैं। जैसे, मोक्षमार्ग में आपके शुद्धरत्नत्रय को बाहर में कोई आलम्बन नहीं है; वैसे ही आपके तीन छत्र भी किसी के आलम्बन बिना निरालम्बीरूप से आकाश में झूल रहे हैं। ऐसी अद्‌भुत शोभा आपके अतिरिक्त अन्य किसे होगी। यही आपका तीन लोक में श्रेष्ठपना प्रसिद्ध करता है।

उस छत्र में जो मोती चमकते हैं, वे ऐसे लगते हैं कि मानो चन्द्रमा के साथ तारे और नक्षत्र-ग्रह आकर आपकी सेवा कर रहे हों। ज्योतिषी देवों के इन्द्र, सूर्य-चन्द्रमा भी जिनेन्द्रदेव के सेवक हैं। प्रभु की तीन लोक में कौन सेवा नहीं करता? प्रभु के रत्नत्रय-छत्र की छाया, तीन जगत् के जीवों को शान्ति प्रदान करनेवाली और कषाय के ताप से बचानेवाली है।

प्रभो! हमारे ऊपर शोभायमान आपकी छत्रछाया हमारे भवताप को दूर करनेवाली है। इस प्रकार तीन छत्र द्वारा अलङ्कारिक प्रकार से भगवान की महिमा करके स्तुति की गयी है।

इस प्रकार भगवान के चौथे प्रातिहार्य का वर्णन किया।

●●

काव्य : 32

गम्भीर-ताररव-पूरित-दिग्विभाग –
स्त्रैलोक्य-लोकशुभसङ्गमभूतिदक्षः।
सद्धर्मराज-जय घोषण-घोषकः सन्
खे दुन्दुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी॥ ३२॥

ऊँचे स्वर से करनेवाली, सर्व दिशाओं में गुञ्जन।
करनेवाली तीन लोक के, जन-जन का शुभ सम्मेलन॥
पीट रही हैं डंका – ''हो सत् धर्मराज की ही जय-जय''।
इस प्रकार बज रही गगन में, भेरी तव यश की अक्षय॥ ३२॥

काव्य - 32 पर प्रवचन

तीर्थङ्कर प्रभु के अतिशयरूप आठ प्रातिहार्यों में देव दुन्दुभि, पाँचवां प्रातिहार्य है। देवों के ये दिव्य वाद्ययन्त्र अत्यन्त गम्भीर मधुर और स्पष्ट आवाज से दसों दिशाओं में घोषणा करते हैं कि हे तीन लोक के जीवों! धर्मराजा सर्वज्ञ परमेश्वर यहाँ विराजमान हैं, उनके दर्शन करने यहाँ आओ, उनका सत्सङ्ग करने आओ; अन्य लाखों काम छोड़कर आत्मा का अचिन्त्य वैभव लेने इन प्रभु के पास आओ।

अहा! समवसरण के इन दिव्य नगाड़ों के नाद अभी यहाँ सुनाई देते हैं – ऐसे भाव से स्तुतिकार कहते हैं कि अहो देव! यह दुन्दुभी का नाद सत्यधर्म का तथा धर्मसाम्राज्य के नायक – ऐसे आपकी जय-जयकार कर रहे हैं और आपका यशगान सुना रहे हैं। भव्यजीवों को ऐसी पुकार कर रहे हैं कि हे जीवो! धर्म प्राप्त करने के लिए यहाँ आओ और मोक्ष के साक्षीदार इन भगवान की सेवा करो। धर्म की प्राप्ति का उत्तम अवसर मिला है, इसलिए प्रभु के धर्मदरबार में धर्म का श्रवण करने आओ।

● भगवान के समवसरण में देव एकसाथ साढ़े बारह करोड़ वादित्र बजाते हैं, इसमें घरघराहट नहीं होती परन्तु अत्यन्त

** भगवान के आठ प्रातिहार्य होते हैं, उनका वर्णन इस भक्तामर स्तोत्र में 28 से 35 तक आठ श्लोक में है। जिसमें, श्वेताम्बर मान्य भक्तामर स्तोत्र में शुरु के चार लिये हैं और शेष चार - दुन्दुभी, पुष्पवृष्टि, भामण्डल और दिव्यध्वनि (श्लोक 32 से 35) उनमें नहीं है। दिगम्बर-मान्य मूल भक्तामर स्तोत्र में 48 श्लोक की रचना है। कदाचित् प्रति लेखक की असावधानी से भी वे चार श्लोक छूट गये हो सकते है।*

मधुरता होती है। उन वाद्ययन्त्रों की सुमधुर आवाज के उपरान्त प्रभु को देव दुन्दुभी का एक अतिशय होता है।

समवशरण में दुन्दुभी के दिव्य नाद के बीच देव, प्रभु का जय-जयकार करके प्रसिद्ध करते हैं कि धर्म के राजा यहाँ विराजमान है, आत्मा का परमात्मवैभव बतानेवाले परमात्मा यहाँ विराजते हैं। हे जीवो! सत्धर्म प्राप्त करने के लिए यहाँ आओ.... मोक्ष का मार्ग यहाँ खुला है —

जीवों! प्रमाद तज दो, भज ईश को लो।
है मार्ग-दर्शक, यहाँ बस पास आजो।
ये बात तीन जगको बतला रहा है,
आकाश बीच सुर-दुन्दुभि-नाद तेरा॥

(- कल्याणमन्दिर स्तोत्र - 25)

मानतुङ्ग स्वामी रचित भक्तामर स्तोत्र और कुमुदचन्द्र रचित कल्याण मन्दिर स्तोत्र, इन दोनों में बहुत समानता है।

अहा! समवसरण तो तीर्थङ्कर प्रभु का धर्मदरबार है, वहाँ आनेवाले जीव महाभाग्यवन्त हैं; प्रभु की वाणी, उन्हें आत्मा का परम वैभव सुनाकर मोक्ष का मार्ग दिखाती है। ऐसे समवसरण में विराजमान धर्मराजा की यह स्तुति चल रही है। उसमें देवदुन्दुभी के वर्णन द्वारा प्रभु की स्तुति की गयी है।

(इस प्रकार प्रभु के आठ में से पाँचवें देव-दुन्दुभी -प्रातिहार्य का वर्णन किया।) ●●

काव्य : 33

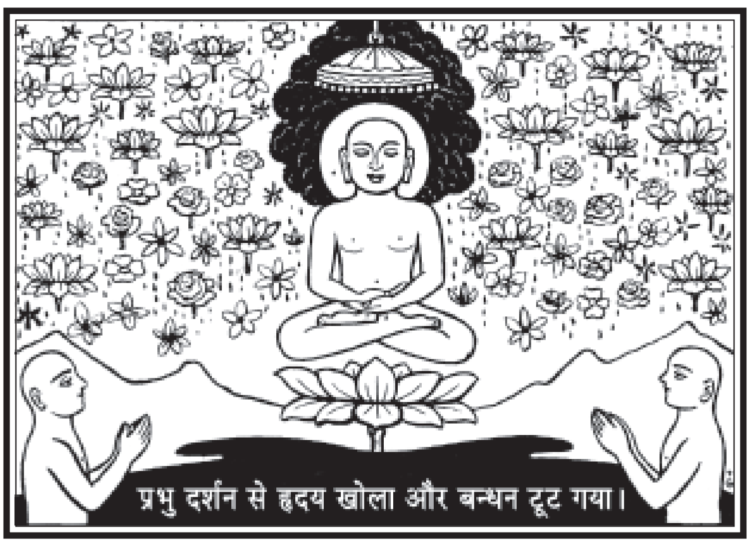

मन्दार-सुन्दरनमेरु-सुपारिजात-
सन्तानकादि-कुसुमोत्कर-वृष्टिरुद्धा।
गन्धोदबिन्दु-शुभ-मन्दमरुत्प्रपाता,
दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा॥ ३३॥

कल्पवृक्ष के कुसुम मनोहर, पारिजात एवं मंदार।
गन्धोदक की मन्द वृष्टि करते हैं, प्रभुदित देव उदार॥
तथा साथ ही नभ से बहती, धीमी-धीमी मन्द पवन।
पंक्ति बाँधकर बिखर रहे हों, मानों तेरे दिव्य वचन॥ ३३॥

काव्य - 33 पर प्रवचन

प्रभु के समवसरण में उत्तम सुगन्धित पुष्पों (मन्दार पुष्प, सुन्दर पुष्प, नमेरु पुष्प, पारिजात पुष्प तथा सन्तानक आदि उत्तम पुष्पों) की वर्षा होती है, सुगन्धित मन्द-मन्द पवन बहती है और सुगन्धित जल की फुहार बरसती है।

...अहा प्रभो! आपके दर्शन से हमारी आत्मा में श्रद्धा -ज्ञान की सुगन्धित पवन बहती है... और आनन्द-अमृत की धारा बरसती है।

जैसे, प्रभु के जन्म के पहले आकाश में से रत्नवृष्टि होती है; वैसे ही अब केवलज्ञान के बाद प्रभु के समवसरण में आकाश में से दिव्य सुगन्धसहित पुष्पवृष्टि होती है। देव भी कल्पवृक्ष के पुण्य लेकर पुष्पवृष्टि करते हैं और सहज ही आकाश में से भी पुष्पवृष्टि होती है। मानो अनन्त आकाश को लगा कि 'अहा, मेरी अनन्त विशालता की अपेक्षा भगवान के ज्ञान की अनन्त विशालता महान् है, वह अनन्त महिमावाली है' – ऐसा समझकर मानो आकाश स्वयं पुष्पों से प्रभु की पूजन करता हो! – इस प्रकार आकाश में से पुष्पवृष्टि होती है – ऐसा प्रभु का अतिशय है, परन्तु विवेकरहित होकर, जिनमें जीवहिंसा हो, इस प्रकार फूल आदि का प्रयोग नहीं करते और प्रभु के अङ्ग पर तो फूल रखे ही नहीं जाते। वीतराग की भक्ति भी विवेकवाली होती है।

ध्यान रहे कि प्रभु के समवसरण में जो पुष्पवृष्टि होती है, वे (पुष्प) सचेत / सचित्त नहीं है, अचेत / अचित्त है; वे

किसी पेड़ पर नहीं होते परन्तु सीधे आकाश में से ही परमाणुओं का दिव्यरूप परिणमन होकर, सुगन्धित फुहार (गन्धोदक) तथा सुगन्धित हवासहित बरसते हैं।

अहो देव! आपके दर्शन होते ही उन फूलों के बन्धन छूट गये, बन्धन से मुक्त वे फूल प्रसन्न होकर ऊर्ध्व मुख करके आपके पास दौड़ते आते हैं; इसी प्रकार भव्य जीव भी अपनी मुक्ति का मार्ग देखकर आपके समीप दौड़ते आते हैं और शान्त रसरूप सुगन्धित जल तथा सम्यक्त्व की मधुर हवासहित आपके चरण में झुकते हैं। इस प्रकार पुष्प का वर्णन करते हुए अथवा पुष्पवृष्टि देखकर, भक्त का हृदय भी कोमल होकर वीतरागदेव के चरणों में झुक जाता है और प्रसन्नता से स्तुति करत है।

प्रभु के समवसरण में बरसते वे पुष्प 'ऊर्ध्वमुखी' होते हैं। डंठल नीचे और खिला हुआ भाग ऊपर; इसी प्रकार जिनदेव के चरणों में नम्रीभूत भक्त भी ऊर्ध्वमुखी, अर्थात् विशुद्ध परिणामी होते हैं, इसलिए वे स्वर्ग-मोक्ष के उच्चपद को प्राप्त करते हैं।

(इस प्रकार प्रभु के आठ में से छठवें पुष्पवृष्टि प्रातिहार्य का वर्णन किया) ●●

काव्य : 34

शुम्भत्प्रभा-वलय-भूरि-विभा विभोस्ते,
लोकत्रये द्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती।
प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तरभूरिसंख्या,
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोमसौम्याम्॥ ३४॥

तीन लोक की सुन्दरता यदि, मूर्तिमान बनकर आवे।
तन-भा मण्डल की छवि लखकर, तब सन्मुख शरमा जावे॥
कोटि सूर्य के ही प्रताप सम, किन्तु नहीं कुछ भी आताप।
जिनके द्वारा चन्द्र सुशीतल, होता निष्प्रभ अपने आप॥ ३४॥

काव्य - 34 पर प्रवचन

हे देव! आपके शरीर में से निकलता दिव्य प्र-भामण्डल हजारों सूर्य के तेज की अपेक्षा अधिक तेजस्वी, कान्तिवाला है। तीन लोक में हीरा-चन्द्रमा-सूर्य अथवा देवों के मुकुट आदि जितने प्रकाशमान पदार्थ हैं, उन सबके तेज को, आपके भामण्डल का तेज फीका कर देता है और हजारों सूर्य की अपेक्षा भी अधिक तेजस्वी होने पर भी वह शान्त-सौम्य है, वह रात्रि में भी प्रकाशमान रहता है और अन्धकार को दूर करता है।

देखो, यह तीर्थङ्कर प्रभु का अतिशय! यह तो अभी शरीर की प्रभा की बात है; आत्मा के केवलज्ञान-तेज की तो क्या बात! पुण्यवन्त दिव्य पुरुषों की मुद्रा के आस-पास प्रकाश का तेज (आभामण्डल, तेजमण्डल) होता है, वह जहाँ जाए, वहाँ प्रकाश फैल जाता है। इसी प्रकार सर्वज्ञता के साथ दिव्य पुण्य-अतिशयवाले तीर्थङ्कर भगवान की मुद्रा, कोई फिरती हुई दिव्य तेज की प्रभाववाला मण्डल (भामण्डल) होता है, वह शान्त-सौम्य होता है; वह आतापकारक नहीं होता, उसके समक्ष देखने से वह हजारों सूर्य की अपेक्षा अधिक तेजस्वी होता है और फिर भी आँखें झपझपाती नहीं, परन्तु स्थिर रहती हैं। सूर्य-चन्द्रमा का, हीरा-मोती का तेज भी उसके समक्ष कान्तिविहीन हो जाता है। ऐसे भगवान के पास अन्धकार नहीं होता, उनके पास आताप टल जाता है और शान्ति होती है।

भगवान को स्वयं तो कोई रोग या शस्त्रादि का उपद्रव

नहीं होता और उन भगवान की उपस्थिति में (समवसरण में रहनेवाले) अन्य जीवों को भी शस्त्र-रोग आदि का कोई उपद्रव नहीं होता, और होता भी है तो प्रभु के समीप (समवसरण में) उपस्थित होते ही दूर हो जाता है। अरे, अन्धा होता है, वह भी देखने लगता है और प्रभु को देख लेता है। अहा प्रभो! आपको पाकर हमारी अज्ञान-अन्धता दूर हो गयी और ज्ञानचक्षु खुल गये हैं... वहाँ आपका दिव्य-चैतन्यरूप हमने देख लिया... और उसके जैसा अपना चैतन्यरूप भी हमने देख लिया।

अहा, प्रभु का आत्मा तो सर्वज्ञ... उनके दिव्य ज्ञानतेज में तो तीन काल, तीन लोक झलकते हैं और प्रभु का शरीर भी ऐसा तेजस्वी प्रभावाला है कि उसमें देखनेवाले को अपने सात भव (पूर्व के और भविष्य के हों तो) दिखते हैं। अरे! प्रभु को पहचानकर और उनके 'ज्ञानदर्पण' में देखते ही, स्वयं का मोक्ष भी उसमें दिखता है। प्रभो! आपकी वीतरागी मुद्रा के पास का प्रभामण्डल, वह वास्तव में तो हमारे मोक्ष को देखने का मङ्गल-दर्पण है; जगत् के उस पवित्र दर्पण में हमें तो अपना मोक्ष दिखता है; आपके ज्ञान में हमारे मोक्ष का प्रतिबिम्ब दिखता है और आपके शुद्धात्मा को देखते ही हमारा शुद्धात्मा दिखता है।

इस प्रकार भामण्डल की महिमा द्वारा भी धर्मीजीव स्वयं की मोक्षभावना का घोलन करते हैं। भगवान के गुण-स्तवन द्वारा वास्तव में अपने वैसे स्वभाव की भावना करते हैं।

(इस प्रकार भगवान के आठ अतिशयों / प्रातिहार्यों में से सातवें भामण्डल का वर्णन किया) ●●

काव्य : 35

स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्टः
सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटुस्त्रिलोक्याः।
दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थ – सर्व-
भाषास्वभावपरिणामगुणैः प्रयोज्यः॥ ३५॥

मोक्ष-स्वर्ग के मार्ग प्रदर्शक, प्रभुवर तेरे दिव्य वचन।
करा रहे हैं 'सत्य धर्म' के, अमर तत्त्व का दिग्दर्शन॥
सुनकर जग के जीव वस्तुतः, कर लेते अपना उद्धार।
इस प्रकार परिवर्तित होते निज-निज भाषा के अनुसार॥ ३५॥

काव्य - 35 पर प्रवचन

हे देव! आपकी दिव्यध्वनि, स्वर्ग तथा अपवर्ग, अर्थात् मुक्ति के मार्ग को बताने में कुशल है, इष्ट है। आपकी दिव्यध्वनि सुनकर मुमुक्षु जीव अपने में मोक्ष का मार्ग देख लेते हैं। वह (दिव्यध्वनि) तीन लोक के जीवों को सत्धर्म का स्वरूप कहने में समर्थ है। आपकी दिव्यध्वनि, सर्व पदार्थों का स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट समझाती है और उस ध्वनि में एकसाथ सर्व भाषारूप परिणमने की सामर्थ्य है, इसलिए सब जीव अपनी-अपनी भाषा में समझ जाते हैं।

सर्वज्ञ भगवान को ही वाणी का ऐसा दिव्य अतिशय होता है। मुख खुले बिना या होंठ हिले बिना उनकी वाणी सर्वाङ्ग से निकलती है; वही 'अनहद' नाद है। संस्कृत-प्राकृत-हिन्दी -गुजराती या इंग्लिश आदि 700 भाषा के जीव तथा सिंह, गाय, मोर, सर्प आदि तिर्यञ्च भी, सब अपनी-अपनी भाषा में प्रभु का उपदेश सुनते हैं; प्रत्येक को ऐसा लगता है कि प्रभु मेरी भाषा में बोलते हैं।

शास्त्रों में प्रभु की दिव्यध्वनि की बहुत महिमा आयी है। उसमें मुख्य बात यह है कि वह मोक्ष का मार्ग दिखानेवाली है और उस भव में मोक्ष प्राप्त न करे तो स्वर्ग का मार्ग भी दिखाती है। यद्यपि प्रभु की वाणी का प्रयोजन तो वीतरागभावरूप मोक्षमार्ग साधना ही है, परन्तु मोक्ष को साधते-साधते साधक को कोई रागभाव शेष रह जाए तो वह भगवान की भक्ति करते -करते स्वर्ग में जाता है और वहाँ से निकलकर फिर मोक्ष

को साधता है। मोक्ष, वीतरागतापूर्वक ही होता है; राग का कण भी भव का कारण है और मोक्ष को रोकता है; इसलिए भगवान ने कहा है कि —

अतएव करना राग ना, किंचित् कहीं मोक्षार्थियो।
इससे तरे वह भव्य भवसागर, सदा वीतराग हो॥

(- पञ्चास्तिकाय, गाथा-172)

देखो, यह भगवान का उपदेश! दिव्यध्वनि में भगवान ने ऐसा धर्मोपदेश दिया... उसे झेलकर जीव, स्वर्ग-मोक्ष में गये। वाणी में भी आश्चर्य तो देखो कि बोलने पर भी मुख नहीं खोलते। भगवान का उपदेश इच्छारहित निकलता है। प्रतिदिन प्रातः, दोपहर, सायं और रात्रि में छह-छह घड़ी भगवान की वाणी खिरती है। उस वाणी में क्रम नहीं होता।

देखो! भगवान के गमन करने में पैरों का क्रम नहीं होता; भाषा में भी शब्दों का क्रम नहीं होता और ज्ञान में जानने में भी क्रम नहीं होता। भाषा में एकसाथ सभी तत्त्व आते हैं और सर्व जीवों का समाधान हो जाता है। अहो देव! ऐसी महिमावन्त वाणी आपके अतिरिक्त अन्य किसे होती है? उसे झेलकर अनेक जीव तत्क्षण अन्तर्मुख होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त कर लेते हैं।

अहो! इन्द्र और मुनिवर भी जिसे सुनते ही एकाग्रचित्त हो जाएँ, उस वाणी की मधुरता का क्या कहना? '**वचनामृत वीतराग के परम शान्तरस मूल**' – प्रभु की वाणी में वीतरागी अमृत झरता है, उसका रसपान भवरोग को मिटानेवाला है। 'कल्याण मन्दिर' स्तोत्र में कहते हैं कि —

तेरी गिरा अमृत है यह जो कहाता,
है योग्य क्योंकि हृदयोदधि से उठी है।
पीके तथा मद भरे जन भी उसे हैं,
होते तुरन्त अजरामर सौख्य-धाम॥

(- कल्याणमन्दिर स्तोत्र - 21)

लोक में कहावत है कि समुद्र का मन्थन करते हुए, उसमें से पहले विष और फिर अमृत निकला – ये सब तो काल्पनिक बातें हैं, परन्तु आपके केवलज्ञान से भरपूर गम्भीर समुद्र से निकली हुई वाणी को सत्पुरुष 'अमृत' कहते हैं, वह यथार्थ है, क्योंकि उसका पान करनेवाले भव्यजीव निश्चित ही अमरपद को (स्वर्ग–मोक्ष को) प्राप्त करते हैं। आपकी वाणीरूप श्रुतसमुद्र का मन्थन करने से उसमें से अकेला अमृत, अर्थात् मात्र वीतरागता ही निकलती है।

वाह रे वाह जिनवाणी! तुम तो जगत् के भव्य जीवों की माता हो!! ॐ (ओम्कार) यह, जिनवाणी का प्रतीक है। भगवान कोई 'ओ...म..., ओ...म...' ऐसी अक्षररूप भाषा नहीं बोलते; भगवान की दिव्यध्वनि तो निरक्षरी है, उसकी ॐ – ऐसे चिह्न से पहचान कराते हैं।

गोम्मटसार में कहा है कि भगवान ने केवलज्ञान में जो जाना, वाणी में उसका अनन्तवाँ भाग आता है; वाणी में जो आया, उसका अनन्तवाँ भाग गणधरदेव ने श्रुतज्ञान में झेला और गणधरदेव ने जो झेला, उसका अनन्तवाँ भाग बारह अङ्ग –शास्त्ररूप में रचित हो सका। इसके द्वारा सर्वज्ञदेव के ज्ञान की और उनकी वाणी की परम गम्भीरता का ख्याल आयेगा।

आज वह ज्ञानामृत विद्यमान है; भले थोड़ा है तो भी अमृत के सागर में से भरे हुए एक कलश की भाँति, वह भव्य जीवों को मोक्षमार्ग दिखाकर, उसकी तृषा (प्यास) को बुझाता है। श्रीगुरुओं के प्रताप से आज भी मोक्षमार्ग जीवन्त है।

(पद्मनन्दि–पञ्चविंशतिका का आधार देकर कहानगुरु कहते हैं) – अहो ऋषभदेव प्रभो! आपने तो अन्तर का चैतन्य खजाना दिया और दिव्यध्वनि के द्वारा जगत् के समक्ष उस खजाने को खुल्ला / परिस्पष्ट कर दिया। अब, ऐसा कौन बुद्धिमान है कि जो इस खजाने को ग्रहण न करेगा; अर्थात्, बुद्धिमान भव्यजीव तो आपसे चैतन्य खजाने की बात सुनते ही, उसके समक्ष राजपाट को अत्यन्त तुच्छ समझकर, उसे छोड़कर चैतन्यरूपी खजाना लेने के लिए वन में गमन कर गये और मुनिदीक्षा अङ्गीकार करके केवलज्ञानरूपी खजाना प्राप्त कर लिया। धर्मी सम्यग्दृष्टि जीवों ने भी अपने खजाने के दर्शन कर लिये हैं; इस प्रकार हे जिनदेव! आप हमारे धर्म के दातार हो... आपकी दिव्यध्वनि का उपदेश चैतन्यखजाना बताकर, हमें मोक्षवैभव की प्राप्ति कराता है।

(इस प्रकार प्रभु के आठवें प्रातिहार्यरूप दिव्यध्वनि का वर्णन किया।) ●●

काव्य : 36

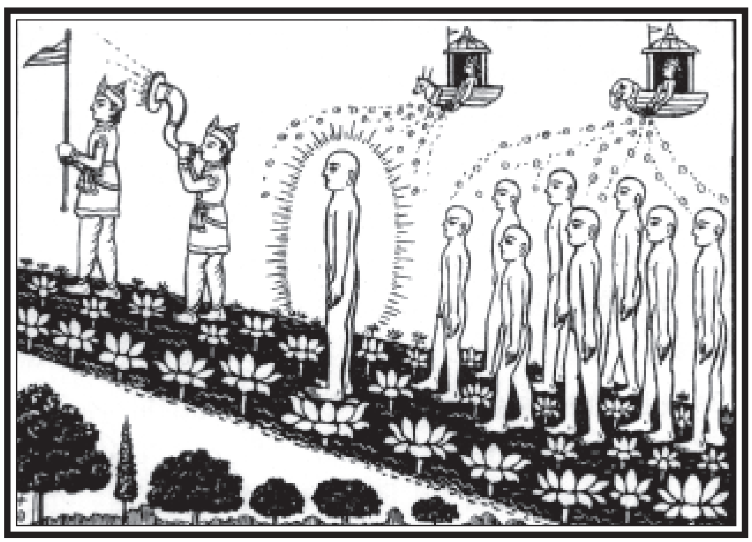

उन्निन्द्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्ति,
पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र! धत्तः
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति॥ ३६॥

जगमगात नख जिसमें शोभें, जैसे नभ में चन्द्र किरण।
विकसित नूतन सरसीरूहसम, हे प्रभु तेरे विमल चरण॥
रखते जहाँ वहीं रचते हैं, स्वर्णकमल सुरदिव्य ललाम।
अभिनन्दन के योग्य चरण तव, भक्ति रहे उनमें अभिराम॥ ३६॥

काव्य - 36 पर प्रवचन

श्री तीर्थङ्कर भगवान के आठ अतिशय – अशोकवृक्ष, सिंहासन, चँवर, छत्र, देवदुन्दुभी, पुष्पवृष्टि, भामण्डल और दिव्यध्वनि का वर्णन किया। अब, तदुपरान्त भगवान के अन्य कितने ही अतिशयों का वर्णन करके स्तुति करते हैं। इस श्लोक में, प्रभु के श्रीविहार के समय आकाश में पद्म–कमल की रचना होती है, उसका वर्णन है।

हे जिनेन्द्रदेव! आपके चरण, नवीन विकसित स्वर्णकमलवत् कान्तिवाले हैं, उनके नखों में से मनोहर किरणों की प्रभा चारो और प्रसारित होती है। आप जहाँ विहार करते हो, वहाँ आपके पैरों के नीचे 225 (15×15) स्वर्ण कमलों की अद्भुत रचना होती है। अहो देव! जहाँ आपके चरण नीचे पड़ते हैं, वहाँ आकश में पुष्प की रचना होती है। सामान्य लोग कहते हैं कि आकाश में फूल नहीं उगते हैं, परन्तु प्रभु! आप विहार करो, वहाँ तो आकाश में आपके पैरों के नीचे दैवीय कमलों की रचना होती है; मानो आकाश में अद्भुत बगीचा विकसित हुआ हो।

आपकी आत्मा में तो अनन्त गुणों का बगीचा खिला ही है और बाहर में जहाँ आपके चरण पड़ें, वहाँ भी दैवीय कमलों का बगीचा खिल उठा है। भव्य जीवों का हृदयकमल भी खिल गया है। जिसके अन्तर में आपके चरण वसे हों, उस भव्यजीव में धर्म का बगीचा खिल उठा है।

देखो, यह भक्ति! भगवान के चरण के तलवे कमलवत्

कोमल और अत्यन्त सुशोभित होते हैं। जब प्रभु विहार करते हैं, तब उनके साधारण मनुष्यों की भाँति कदमों का क्रम नहीं होता; तथा प्रभु, धरती पर चरण नहीं रखते। आकाशगामी प्रभु का श्रीविहार अद्‌भुत है – '**बिना डग भरे, अन्तरीक्ष जाकी चाल है।**' प्रभु का केवलज्ञान अक्रम से जाननेवाला है, उसमें क्रम नहीं होता। प्रभु की वाणी अक्रमरूप है, उसमें अक्षरों का क्रम नहीं होता और प्रभु का बिहार भी कदमों के क्रम के बिना होता है, वे एक के बाद एक कदम नहीं रखते। जैसे, पक्षी को आकाश में गमन करने के लिए डग नहीं भरने पड़ते; वैसे ही आकाशगामी भगवान के दोनों पैर एक साथ रहकर आकाशगमन होता है। आश्चर्यकारी है भगवान की बात! अरे, ऋद्धिधारी मुनिराज भी कदम रखे बिना ही आकाश में विहार कर सकते हैं तो तीर्थङ्कर परमात्मा की क्या बात!

प्रभो! अन्तर में आपके गुणों का बगीचा खिला है, वहाँ बाहर में भी फूल का बगीचा खिल उठा है...चारों ओर सुगन्ध फैल गयी है। प्रभो! इस भक्ति द्वारा हमारे हृदय में आपके गुणस्वभाव की सुगन्ध फैल गयी है, उसमें अब विभाव की दुर्गन्ध प्रवेश नहीं कर सकती है।

आपके चरणों के नीचे खिले हुए कमल देखकर मैं तो यह समझता हूँ कि हे देव! जिस भक्त के हृदय में आपके चरण विराजमान हैं, उसके अन्तर में गुण का बगीचा खिल जाता है। प्रभु के श्रीविहार के समय आकाश में स्वर्ण कमलों की रचना – यह कोई कल्पना नहीं है, परन्तु देव उसकी रचना करते हैं। भक्त की भक्ति और भगवान की महिमा, दोनों

आश्चर्यकारी हैं। वे 225 स्वर्णकमल अचित्त होते हैं, उन अचित्त पुष्पों को भी प्रभु स्पर्श नहीं करते, अलिप्त रहते हैं, तब सचित्त पुष्प की तो बात ही क्या?

अहो! प्रभु को ऊपर से रत्न बरसते हैं और चरणों के नीचे पुष्प बिछे होते हैं। हे देव! ऐसा बाह्य प्रभाव भी आपके अतिरिक्त किसी अन्य के नहीं होता। आपके अन्तर का केवलज्ञान वैभव तो कोई अचिन्त्य और अतीन्द्रिय है। ऐसे दिव्य वैभव के बीच भी पूर्ण वीतरागता तो आपको ही सुशोभित होती है। जैसे, अभी भी बड़े मनुष्य का स्वागत करने के लिए मखमल का लाल गलीचा आदि बिछाते हैं; वैसे ही प्रभु के विहार में देव, दैवीय सुवर्ण कमल बिछाकर प्रभु का सम्मान करते हैं; तीर्थङ्कर प्रभु के पुण्य का ऐसा ही अतिशय है कि विबुद्ध देव ऐसी रचना करते हैं।

जैसे, मोक्षदशा को प्राप्त सिद्ध भगवान, संसार में वापस नहीं आते; वैसे ही केवलज्ञान को प्राप्त गगनविहारी हुए अरहन्त भगवान भी धरती पर वापस नहीं आते; केवली प्रभु का विहार आकाश में ही होता है, समवसरण भी जमीन से ऊपर अद्धर होता है। ऊपर गया आत्मा नीचे क्यों आयेगा? इसी प्रकार हे देव! हमने आपको अन्तर में वसाया है, इसलिए हमारा आत्मा भी अब ऊर्ध्वगामी ही है, हम भी अब उत्कृष्ट अर्हन्तपद तथा सिद्धपद को प्राप्त करेंगे; फिर से संसार में पैर नहीं रखेंगे। इस प्रकार स्वयं के आत्मा को मिलाकर सम्यक् भक्ति की है।

देखो, सर्वज्ञ परमात्मा के गुणों की भक्ति! आकाश में पुष्प -रचना के वर्णन द्वारा प्रभु के गुणों का स्तवन किया। ●●

काव्य : 37

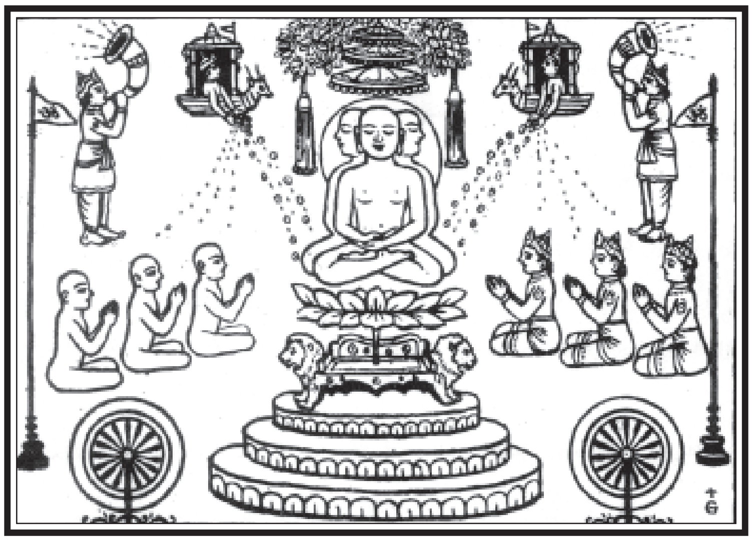

इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र!
धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य।
यदृक्प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा
तादृक्कुतो ग्रहगणस्य विकाशिनोऽपि॥ ३७॥

धर्म-देशना के विधान में, था जिनवर का जो ऐश्वर्य।
वैसा क्या कुछ अन्य कुदेवों, में भी दिखता है सौन्दर्य॥
जो छवि घोर-तिमिर के नाशक, रवि में है देखी जाती।
वैसी ही क्या अतुल कान्ति, नक्षत्रों में लेखी जाती॥ ३७॥

काव्य - 37 पर प्रवचन

हे जिनेन्द्र! इस प्रकार धर्मोपदेश के समय समवसरण में आपके अष्ट प्रातिहार्य इत्यादि दिव्य-आश्चर्यकारी विभूति होती है, वैसी दूसरे किसी अज्ञानी-कुदेवों को नहीं होती; वे सब तो आपके समक्ष, सूर्य के सामने तारे जैसे फीके लगते हैं। लाखों-करोड़ों सितारों का समूह उदित होकर चाहे जितना टिमटिमाये तो भी, अन्धकार को दूर करनेवाले एक दिनकर के पास जैसी जगमगाती प्रभा है, वैसी प्रभा क्या उन सितारों में कभी होती है? – नहीं होती।

जिस प्रकार रात्रि के तारे चाहे जितने प्रकाशित हों परन्तु उनका प्रकाश रात्रि के अन्धकार को मिटाकर दिन नहीं बना सकता; उसी प्रकार मिथ्यात्वरूपी रात्रि में रहते हुए अज्ञानी जीव-कुदेव चाहे जितना विकास करें तो भी हे देव! उनको आपके जैसी वीतरागता और ज्ञानप्रकाश तो दूर रहो, परन्तु आपके जैसी बाह्यविभूति भी किसी को नहीं होती।

अहा! हजार चक्रों से चमकता यह धर्मचक्र; रत्नजड़ित मानस्तम्भ; इच्छारहित खिरती दिव्यवाणी; यह आश्चर्यकारी भामण्डल; आकाश में कमल की रचना; इन्द्र द्वारा पूज्यता – ऐसा आश्चर्यकारी वैभव, हे देव! जैसा आपको हुआ, वैसा अन्य किसी को नहीं होता। क्या टिमटिमाते तारों में या अग्नि के पिण्ड में कभी सूर्य जैसा प्रकाश होता है? सूर्य उदित होता है, तब तारों का तेज ढक जाता है और वे दिखना भी बन्द हो जाते हैं; उसी प्रकार हमारे अन्तर में जहाँ सर्वज्ञदेवरूपी सूर्य

का प्रकाश हुआ, वहाँ कुदेवरूपी तारों का तेज विनष्ट हो गया। प्रभो! अब हमें कोई देव नहीं दिखते; हमारे परम इष्ट सच्चे देव तो एक आप ही हो। परम सर्वज्ञ और वीतराग – ऐसे आपके अतिरिक्त अन्य किसी देव का हमारे अन्तर में स्थान नहीं है।

प्रभो! आपके दिव्यवैभव के आश्चर्य की अपेक्षा, हमें तो उस वैभव के बीच भी आपकी वीतरागता अधिक आश्चर्य उत्पन्न करती है। कहाँ ऐसा वैभव! और कहाँ ऐसी वीतरागता! अन्य सामान्य जीव तो बात-बात में रागी-द्वेषी-क्रोधी हो जाते हैं और स्त्री आदि विषयों में ललचा आते हैं, उनमें न तो वीतरागता है और न सर्वज्ञता ही है। उन्हें 'देव' कौन कहे? वीतराग और सर्वज्ञपने से सुशोभित देव तो एक आप ही हो। कोई देव विक्रिया से कदाचित् समवसरण आदि की रचना दिखाना चाहे तो भी हे प्रभो! जैसा अचिन्त्य प्रभाव आप में हैं, उसका लाखवाँ भागमात्र प्रभाव भी उसमें नहीं आ सकता। आपके पास तो साक्षात् इन्द्र आकर नमस्कार करते हैं; मायावी रचना में वह सब कैसे होगा?

देखो तो सही, प्रभु का आकाशगमन; आकाश में चरणों के नीचे स्वर्ण-पुष्पों की रचना; मुख खोले बिना सर्वाङ्ग से खिरती निरक्षरी वाणी; केवलीपद में करोड़ों वर्षों तक अनाहारीपना – यह सब वैभव, शुद्ध जैन के अतिरिक्त कौन मानता है? देखो, भगवान के भी भोजन होना माने, रोग माने, आकाश के बदले जमीन पर चलना माने, पुष्पवृष्टि के बदले

प्रभु के ऊपर तेज लेश्या का शस्त्रप्रहार होना माने – ऐसे मत में रहनेवाला कोई जीव, सर्वज्ञ परमात्मा की सच्ची स्तुति नहीं कर सकता। अभी जिसे ऐसी बाह्य विभूति का भी विश्वास न हो, वह सर्वज्ञता और वीतरागतारूप अन्तरङ्ग वैभव को तो कैसे समझ पायेगा?

इस प्रकार, भगवान की आश्चर्यकारी स्तुतिरूप यह भक्तामर स्तोत्र, शुद्ध दिगम्बर जैन आम्नायवाले मानतुङ्गस्वामी की ही रचना है... और इसमें अत्यन्त सुन्दरता देखकर समस्त जैनों ने इसे अपनाया है।

तीर्थङ्कर भगवान को पहले साधकदशा में राग से तीर्थङ्करप्रकृति आदि उत्तम पुण्य बँधा, उस राग का उस समय भी उन्हें आदरभाव नहीं था और अब सर्वज्ञ होने के बाद उस पुण्य का फल पका, उसमें भी प्रभु को राग नहीं होता। जिसे राग का आदर होता है, उसे तो ऐसा उत्तम पुण्य बँधता ही नहीं। अन्तर के अनन्त चतुष्टयरूप चैतन्यवैभव के साथ-साथ तीर्थङ्कर भगवन्तों को बाहर में तीर्थङ्करपद की विभूति होती है। यद्यपि अन्य सामान्य केवलज्ञानी भगवन्तों को अन्तर का चैतन्यवैभव तो तीर्थङ्कर प्रभु के जैसा ही होता है, परन्तु बाहर का वैभव वैसा नहीं होता; फिर भी आकाशगमन, निराहारीपना आदि तो उनको भी होता ही है।

आत्मशक्ति की महिमा कोई अलौकिक है, उसका पूर्ण विकास होते ही, उसके साथ का बाह्य वैभव भी आश्चर्यकारी होता है। ऐसा कोई महान आश्चर्य इस जगत् में नहीं है कि

जो पूर्ण परमात्मपद को प्राप्त भगवन्तों के पास नहीं हो! जगत् में सब आश्चर्यों में से सबसे अधिक आश्चर्य, अर्थात् अद्‌भुत से अद्‌भुत अथवा सभी आश्चर्यों से पार तो आत्मा का आनन्दस्वभाव और उसकी अनुभूति है; और हे देव! वह स्वभाव आपने ही प्रगट करके हमें दिखाया है। अन्य किसी देव को ऐसा स्वभाव प्रगट नहीं हुआ, तो वे कैसे दिखा सकते हैं? ऐसे आश्चर्यकारी आपको पहचानकर, जो सम्यक् स्तुति करता है, उसकी भव की बेड़ी टूट जाती है और वह आपके जैसा हो जाता है। ●●

सम्यक्त्व के सन्मुख जीव

हे भगवान! जिसे आप प्राप्त हुए हैं, जिसे आपके प्रति भक्ति है, आपके द्वारा प्रतिपादित आत्मा की बात को जो रुचिपूर्वक सुनता है; वह जीव सम्यक्त्व के सन्मुख हुआ है, वह अल्पकाल में आत्मानुभव करेगा ही; अत: वह जीव भी कम बुद्धिवाला नहीं है। गृहीत मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा तो वह जीव भी बहुत आगे है। भले ही वर्तमान में उसे आत्मानुभव नहीं है, तथापि वह अनुभव की तैयारीवाला है; अत: वह जीव भी बहुत उत्कृष्ट है।

- विषापहार प्रवचन, पृष्ठ-97

काव्य : 38

श्च्योतन्मदा विल-विलोल-कपोल-मूल-
मत्तभ्रमद्-भ्रमरनाद विवृद्ध-कोपम्।
ऐरावता - मिभमुद्धतमापतन्तं
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम्॥ ३८॥

लोल कपोलों से झरती है, जहाँ निरन्तर मद की धार।
होकर अति मदमत्त कि जिस पर, करते हैं भौंरे गुञ्जार॥
क्रोधासक्त हुआ यों हाथी, उद्धत ऐरावत सा काल।
देख भक्त छुटकारा पाते, पाकर तब आश्रय तत्काल॥ ३८॥

काव्य - 38 पर प्रवचन

प्रभो! आपका भक्त तो मोक्ष का साधक है, उसे संसार का भय कैसा? अहा! जिसके अन्तर में जिनदेव विराजते हैं, शुद्धात्मा विराजता है – ऐसे जिनभक्त को संसार में भिन्न –भिन्न भयों का अभाव होता है। उसमें पागल हाथी, क्रूर सिंह, दावानल, सूर्य, शत्रुसेना, युद्धभूमि, तूफानी समुद्र, जलोधर रोग या बेड़ी का बन्धन – इन सब भयों का अभाव बतानेवाले नौ श्लोक (38 से 46) कहते हैं; उनमें यह पहला श्लोक है; इस श्लोक का नाम है – 'गजभयभंजकस्तुति'। उसमें कहते है कि हे देव! मद झरता और भँवरे की गुञ्जार से आकुल –व्याकुल ऐरावत जैसा बड़ा हाथी, पागल होकर क्रोधपूर्वक सूंढ ऊँची करके सामने दौड़ता आता हो तो भी आपका भक्त, भय पाकर अपने अन्तर में से आपको विस्मृत नहीं करता; इस प्रकार आपका आश्रय करनेवाले को पागल हाथी देखकर भी भय नहीं होता।

अरे, आपका भक्त तो चैतन्यभावना द्वारा अन्दर के क्रोधभाव को जीत लेता है, वहाँ बाहर के हाथी का भय कैसा? आत्मा की शान्ति में भय किसका?

अज्ञानी दुष्ट लोग कहते हैं कि '**हस्तिनां ताड्येदपि न गच्छेत् जिनमन्दिरे**', अर्थात् हाथी मारने के लिए पीछे पड़ा हो तो भी जिनमन्दिर में नहीं जाना। (यह तो अज्ञानी की धर्मद्वेष की मिथ्याबात है) यहाँ तो कहते हैं कि तुझे हाथी के भय से बचना हो तो जिनेन्द्रदेव की शरण ले।

जिनदेव का भक्त, बाहर में पालग हाथी या क्रूर सिंह आदि उपसर्गों के बीच भी निर्भयरूप से हृदय में जिनभक्ति को नहीं भूलता। जिसका चित्त जिनगुणों में लगा हो, उसे बाहर का भय नहीं होता और जिनगुणों के चिन्तवन में विशुद्धपरिणाम होने से, उसे पूर्व के शुभकर्मों का रस बढ़ जाता है और अशुभकर्मों के रस की हानि हो जाती है; इसलिए उसके फल में कभी बाह्य उपसर्ग टल जाता है और देवादि उसका आदर करते हैं। (ब्रह्मचारी, सुदर्शन सेठ, यमपाल, चाण्डाल, सती सीता, सोमा, चन्दना, अञ्जना, द्रौपदी आदि के जीवन में ऐसे प्रसङ्ग प्रसिद्ध हैं।)

किसी के पुण्य का रस बढ़ने पर भी पूर्व का कोई उदय बाकी रह गया हो तो, मुनि जैसों को भी सिंह आदि खा जाते हैं अथवा अग्नि में जला देते हैं – ऐसे प्रसङ्ग भी बनते हैं। (पारर्श्वनाथ के पूर्व भव तथा पाण्डव मुनिराज आदि के जीवन में ऐसे प्रसङ्ग बने हैं) परन्तु ऐसे प्रसङ्ग में वे धर्मी जीव, भगवान जिनेश्वर के गुणचिन्तवन को या उनके वीतरागमार्ग को नहीं छोड़ते हैं, उसमें दृढ़ रहकर आराधना करते हैं; इसलिए उन्हें भी वे उपद्रव, धर्मसाधना में विघ्न नहीं कर सकते, वे निर्भयरूप से धर्म को साधते हैं। इस प्रकार पुण्य-पाप के विचित्र खेल के बीच धर्मी जीव, जिनमार्ग को, अर्थात् ज्ञानचेतना को कभी नहीं छोड़ते; वे अपनी धर्मसाधना में निश्चल रहते हैं। उदयभावरूपी पागल हाथी को ज्ञानचेतना द्वारा वशीभूत कर लेते हैं।

भगवान पार्श्वनाथ का जीव पूर्वभव में हाथी था, एक बार

वह पागल होकर तूफान / उपद्रव कर रहा था परन्तु मुनिराज को देखते ही शान्त हो गया और सम्यग्दर्शन प्राप्त किया। रामचन्द्रजी के समय में त्रिलोकमण्डन हाथी पागल होकर दौड़ने लगा, परन्तु जब भरत ने शान्तदृष्टि से उसके सन्मुख देखा तो पूर्व भव के जातिस्मरणपूर्वक एकदम शान्त होकर खड़ा हो गया। वैशाली का हाथी पागल होकर दौड़ा, वहाँ महावीरकुमार उसके सन्मुख जाकर निर्भयरूप से खड़े रहे और उस पर शान्तदृष्टि करते ही वह एकदम शान्त हो गया। – ये सब महात्मा उस समय कोई भक्तामर का यह श्लोक नहीं बोल रहे थे, परन्तु उनके अन्तरङ्ग में जिनगुणचिन्तनरूप शान्त जिनभक्ति वर्तती थी, वहाँ सहज योग से ऐसा प्रसङ्ग बन गया।

अन्तर में आराधना होती है तो बाहर में ऐसे प्रसङ्ग किसी –किसी को बनते हैं, किसी को नहीं भी बनते, परन्तु धर्मी को अन्तर में ऐसा भय नहीं होता कि यह सिंह या हाथी मेरे सम्यक्त्वादि धर्म का नाश करेगा। वह शरीर को खा जाएगा या कुचल डालेगा तो भी मेरी धर्मसाधना नहीं छूटेगी, मेरे अन्तर में से जिनभक्ति नहीं छूटेगी; इस प्रकार जिनभक्ति 'गजभयभञ्जक' है।

प्रश्न – बहुत से मुनियों को घानी में पेल दिया गया तो क्या उनके अन्तर में जिनभक्ति नहीं थी?

उत्तर – थी, परन्तु किसी अशुभकर्म के उदय से ऐसा हुआ; फिर भी उस समय परमार्थ जिनभक्ति से चैतन्य के चिन्तवन में चित्त को जोड़कर, घानी के मध्य भी केवलज्ञान

प्राप्त किया और तुरन्त उपसर्ग भी शान्त हो गया। बहुत से मुनियों में ऐसी शक्ति होती है कि वे विकल्पमात्र से उपसर्ग दूर कर सकते हैं। संगमदेव के उपसर्ग को एक सङ्कल्पमात्र से दूर करने की सामर्थ्य प्रभु पार्श्व मुनि में थी परन्तु उन्होंने बाह्य सङ्कल्प में नहीं रुककर, अन्दर चैतन्य के चिन्तवन में ही चित्त को एकाग्र करके केवलज्ञान प्राप्त किया। वहाँ उपसर्ग भी स्वत: शान्त हो गया। विकल्प करके उपसर्ग को दूर करने की अपेक्षा निर्विकल्प होकर उपसर्ग को शान्त किया, वह उत्तम है; इसलिए कहा है कि —

उदय कर्मों के विविध-विध सूत्र में जिनवर कहे।
किन्तु वे मेरे नहीं मैं एक ज्ञायकभाव हूँ॥*

(- समयसार, गाथा-198)

— इस प्रकार कर्मों से भिन्न ज्ञायकस्वभाव की भावना ही धर्मी का मुख्य कार्य है और वही सच्ची जिनभक्ति है। यह अन्दर आत्मा के आनन्द के वेदनसहित की भक्ति है। आत्मस्वभाव का आश्रय करके ऐसी भक्ति, अर्थात् आत्मसाधना में मस्त जीवों को मदमस्त हाथी का भय भी नहीं होता।

हाथी कैसा? मदमस्त; कामवासना से जिसके कुम्भस्थल में से मद झरता है, भँवरे की गुँजार से परेशान होकर जो क्रोधित हुआ है, जो ऐरावत के समान बड़ा है और निरंकुशरूप से दाँतों को भीचता हुआ सूँड ऊँची करके सामने दौड़ता आता है —

---

* *गुरु कहान को यह गाथा बहुत प्रिय थी, जीवन के अन्तिम दिवसों में भी उनके समक्ष ब्र. हरिभाई यह गाथा बोले थे और गुरुदेव ने प्रमोद व्यक्त किया था।]*

ऐसे हाथी को देखकर भी, हे जिनेश! आपके चरणों का आश्रय करनेवाले को कोई भय नहीं होता तथा अन्तर में अशुभकर्मरूपी बड़ा हाथी उदय में आवे और प्रतिकूलता के ढेर हों तो भी निज चैतन्यस्वरूप की शरण लेकर, उसका आश्रय करनेवाला धर्मात्मा, उन कर्मों में नहीं फँसता।

हे देव! स्वभाव का शरण लेनेवाला आपका भक्त, कर्मों से डर जाता है या मार्ग से डिग जाता है – ऐसा नहीं होता, वह तो मार्ग से अच्यूत रहकर कर्मों की निर्जरा कर देता है। उसे कैसी प्रतिकूलता? प्रतिकूल संयोग, उसकी आराधना को दबा नहीं सकते हैं।

इस प्रकार समकिती जीव, निःशङ्क और निर्भय होते हैं। बाहर में कदाचित् हाथी से डरकर भागते हों तो भी अन्तर में आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में वे निर्भय हैं, उन्हें स्वरूप के नाश की शङ्का नहीं होती। वज्रपात हो और सम्पूर्ण जगत् में खलबली हो जाए तो भी धर्मी जीव अपने स्वभाव से च्युत नहीं होता और जिनमार्ग की शरण नहीं छोड़ता; इसलिए शास्त्र में कहा है कि जिसके अन्तर में दृढ़ जिनभक्ति है, उसे संसार का भय नहीं है।

इस प्रकार भक्तामर-स्तोत्र में 'गजभयभञ्जक' नाम का 38 वाँ श्लोक कहा, अब 'सिंहभयभञ्जक' नाम का 39 वाँ श्लोक कहेंगे। ●●

काव्य : 39

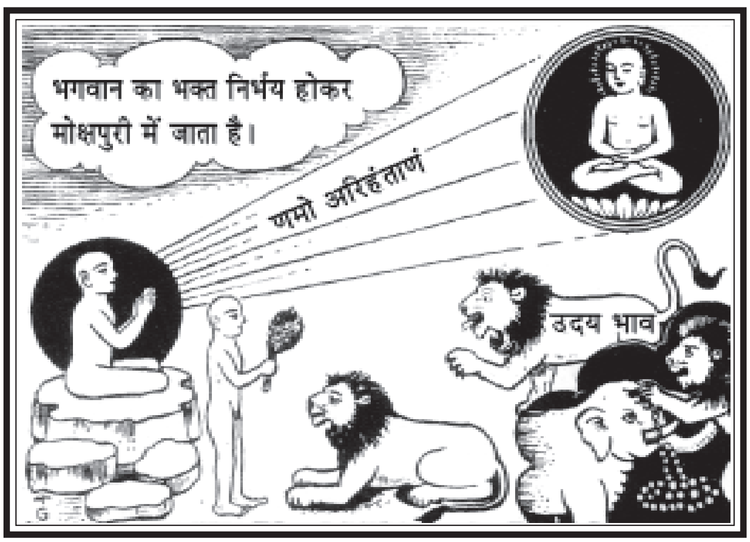

भिन्नेभकुम्भगलदुज्ज्वलशोणिताक्त,
मुक्ताफलप्रकरभूषित-भूमिभागः।
बद्धक्रमः क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि,
नाक्रामति क्रमयुगाचलसंश्रितं ते॥ ३९॥

क्षत-विक्षत कर दिये गजों के, जिसने उन्नत गण्डस्थल।
कान्तिमान् गज-मुक्ताओं से, पाट दिया हो अवनी-तल॥
जिन भक्तों को तेरे चरणों, के गिरी की हो उन्नत ओट।
ऐसा सिंह छलांगे भरकर, क्या उस पर कर सकता चोट?॥ ३९॥

काव्य - 39 पर प्रवचन

हे देव! जिसका चित्त आपके '**क्रमयुग**', अर्थात् चरणकमल में अचलरूप से आश्रित हैं, उसे सिंह का भय नहीं है। सिंह भी उस पर आक्रमण नहीं करता। सिंह भी कैसा? जिसने पञ्जे के प्रहार से विशाल हाथी के कुम्भस्थल को चीर डाला है और उस हाथी के कुम्भस्थल में से बहते हुए रक्त से रञ्जित, सफेद गजमोती-मुक्ताफल से पृथ्वी का भाग चमक रहा है। भद्र जाति के उत्तम हाथी के मस्तक में मोती पकता है, उसे गजमोती कहते हैं, सभी हाथियों के मस्तक में ऐसे गजमोती नहीं होते। ऐसे बलवान हाथी के मस्तक को पञ्जे के प्रहार से जिसने चीर दिया है – ऐसा सिंह '**बद्धक्रम**', अर्थात् छलाङ्ग मारता हुआ आता हो और आपका भक्त '**क्रमगतम्**', अर्थात् उसके पञ्जे के बीच में आ पड़ा हो, तो भी '**क्रमयुग**', अर्थात् आपके चरण कमल का अचल आश्रय करनेवाले भक्त पर सिंह आक्रमण नहीं करता। अहो जिनदेव! आपके समीप तो सिंह जैसे क्रूर जीव भी शान्त हो जाते हैं।

देखो, महावीर भगवान का जीव, जब पूर्व के दसवें भव में सिंह था, तब दो मुनिराज उसे सम्बोधित करने आकाश से उतरे, वह सिंह तो उन मुनिवरों की वीतरागी शान्ति देखकर चकित हो गया; मुनिराजों को सिंह का भय नहीं लगा, अपितु वह सिंह, मुनिराजों को देखकर शान्त हो गया और आत्मज्ञान प्राप्त किया।

अञ्जना (हनुमान की माता) जब जङ्गल की गुफा में रहती

थी और मुनिसुव्रतस्वामी की भक्ति करती थीं, तब गुफा के द्वार पर एक क्रूर सिंह आकर गर्जना करने लगा, उससे भयभीत अञ्जना जिनस्मरण करने लगी, तभी वहाँ एक देव ने अष्टापद (आठ पैरवाला) का रूप धारण करके सिंह को भगा दिया और अञ्जना की रक्षा की। पुण्ययोग से धर्मात्माओं को ऐसा योग बन जाता है।

'कई बार मुनि को सिंह-बाघ खा जाते हैं न! पार्श्वनाथ के जीव को पूर्व में आनन्दराजा के भव में सिंह खा गया था, सुकौशल मुनिराज को बाघिन (जो उनकी जन्म देनेवाली माता थी, वही बाघित होकर)' खा गयी – ऐसे भी प्रसङ्ग बनते हैं न!

— इसका स्पष्टीकरण पहले कहा जा चुका है कि यदि उस प्रकार का अशुभकर्म का उदय शेष हो तो वैसा प्रसङ्ग बन जाता है परन्तु ऐसे प्रसङ्ग में भी जिसके अन्तर में जिनभक्ति है, उसे कोई भय नहीं है; मृत्यु आवे तो भी वह धर्म की आराधना नहीं छोड़ता है। सिंह आकर भी क्या करेगा? क्या वह मेरे सम्यक्त्वादि धर्म को खा जाएगा? कभी नहीं; - इस प्रकार भी धर्मी जीव, निःशङ्क और निर्भय रहते हैं।

सिंह पीछे दौड़ा आ रहा हो तो धर्मी जीव भागता भी है, इस जाति का नोकषायरूप भय होता है, परन्तु वह जिनमार्ग में निःशङ्क है; उस समय भी उनको निजधर्म के नाश का भय या मिथ्यात्वरूप भय नहीं होता। सिंह के पैर के बीच पड़ा हो तो भी धर्मात्मा, निःशङ्क है कि सिंह मेरे धर्म पर आक्रमण

नहीं कर सकता। देखो! इस जिनभक्त की अन्तरङ्गदशा!

जिनभक्त को बाहर में क्रूर सिंह और अन्दर में अशुभकर्मों के उदयरूप सिंह के उपसर्ग, विशुद्धपरिणाम द्वारा दूर हो जाते हैं। कदाचित् ऐसे उपसर्ग आये तो उन उपसर्गों के बीच भी साधक जीव की शूरवीरता ऐसी जागृत होती है कि उपसर्ग से डरकर वह आराधना को नहीं छोड़ता। कभी ऐसी स्तुति के श्लोक भी अशुभकर्म का उदय पलटने में निमित्त बन जाते हैं; इसलिए पूर्व श्लोक का नाम **'गजभयभञ्जक-स्तुति'** था और इस श्लोक का नाम **'सिंहभयभञ्जक-स्तुति'** है।

प्रभो! सिंह के दोनों पैरों के बीच खड़े हों, तब भी हमारे हृदय में आप विराजमान हो, हमारे अन्तर में आप उपस्थित हो; फिर आपके समीप हमें सिंह का भय कैसा? जहाँ परमात्मा विराजमान हों, वहाँ समवसरण में सिंह आदि भी शान्त -अहिंसक बन जाते हैं और खरगोश भी उनसे नहीं डरते हैं। तब जहाँ हमारे जैसे धर्मात्मा के हृदय में आप विराज रहे हो, वहाँ हमें सिंह आदि का भय कैसा? हमें तो कर्म के उदयरूप सिंह का या प्रतिकूलता का भी डर नहीं है, क्योंकि उनसे भिन्न ज्ञायक-चिदानन्दतत्त्व की अनुभूति और भावना निरन्तर वर्तती है। हमने सर्वज्ञ की शरण ली है।

सर्वज्ञदेव के सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानरूप दोनों चरणों की जिसने शरण ली है – ऐसे हम, कदाचित् सिंह के पञ्जे के बीच में हों तो भी धर्म से विचलित नहीं होते हैं, भयभीत होकर धर्म को छोड़ते नहीं हैं। अपयश आये, दरिद्रता आये, रोग आये,

कोई बेड़ी से बाँधकर जेल (कारागार) में डाल दे, तो भी हे नाथ! आपका भक्त, कर्मरूपी सिंह के पञ्जे में सकपकाता नहीं है, निर्भयरूप से वह मोक्ष के मार्ग पर चलता रहता है।

अनन्त वीर्यशक्तिवाले आत्मा की शरण ली तो वहाँ अब भय किसका? चैतन्य के साधक धर्मात्मा को पूर्व का अशुभकर्म हो, वह छूट जाता है और नया पुण्य बँधता है तथा कदाचित् कोई अशुभकर्म रह जाए और प्रतिकूलता आ जाए तो उसे विशेष पुरुषार्थ जागृत हो जाता है; उदय के पञ्जे में उसकी चेतना नहीं फँसती। उसे पुण्य और पुरुषार्थ का सुमेल होता है।

अहा प्रभो! जिसका चित्त आपके ध्यान में लगा है, उसे बाहर में सिंह आकर खाता हो तो भी क्या? आपके गुण में जिनका चित्त लगा है, उसे सिंह का डर नहीं है। अरे सिर, सिंह के मुख में हो और अन्दर आत्मा में केवलज्ञान की तैयारी चलती होती है – उसने अन्तर में परमार्थ भगवान की, अर्थात् आत्मस्वभाव की शरण ली है। कर्म का उदयरूप सिंह छलाङ्ग मारकर हमें दबा देगा या हमारे चेतनशरीर को, अर्थात् धर्म को खा जाएगा – ऐसा भय धर्मी को नहीं होता; उसने तो अन्दर में परमात्मस्वभाव का शरण लिया है। बाहर में कोई देव, सिंह का रूप धारण करके कहे कि तू जिनधर्म को छोड़ दे, नहीं तो तुझे खा जाऊँगा – तो वहाँ भी धर्मात्मा, सिंह का भय प्राप्त करके जिनेन्द्र भगवान की शरण नहीं छोड़ता।

हे देव! हमने आपके चरणों और आपके वीतराग मार्ग का आश्रय लिया है, वहाँ सिंह-बाघ हमारा अब क्या करेगा?

वह तो पशु है और आप तो परमात्मा हो। आपकी शरण लेनेवाले को ये बिचारे तिर्यञ्च क्या करेंगे? ज्ञायकस्वरूप की गुफा में कर्मरूपी सिंह का प्रवेश नहीं है। जिसने ज्ञायकस्वरूप का आश्रय लिया, अर्थात् शुद्धोपयोग द्वारा उसमें प्रवेश किया, उस पर कर्मरूपी सिंह आक्रमण नहीं कर सकता। अन्तर में आत्मा की ऐसी निर्भयदशा खिल गयी, उसकी मुख्यता है और जहाँ स्वसन्मुख ऐसी निर्भयदशा हुई, वहाँ बाहर के संयोग से भी निर्भय हो गया। अब, कोई संयोग आकर मेरे धर्म को दबा देगा – ऐसा भय उस धर्मी को नहीं रहा।

जहाँ चैतन्यस्वभाव का आश्रय किया, वहाँ कर्मरूपी सिंह के पैर बँध गये, अब चैतन्य की चेतना के सामने उदय का जोर नहीं चलता। हम अपने स्वभाव में जाते हैं, वहाँ कर्मोदय खिरकर अकर्मरूप हो जाता है। इस प्रकार धर्मी जीव, निर्भयरूप से जिनभक्ति करते-करते मोक्षपुरी चला जाता है।

यहाँ कहा है कि हे भगवान आदिनाथ! आपके जैसे सर्वज्ञस्वभाव की प्रतीति करके, उसका सम्यक् आश्रय करनेवाले जीव को मोक्षमार्ग साधने में सिंह के पैर के बीच भी भय नहीं होता; सिंह उस पर आक्रमण नहीं करता और कदाचित् आक्रमण करे तो भी निर्भयरूप से वह मोक्षमार्ग को साधता है। जहाँ आपका आश्रय है, वहाँ साधना में कोई विघ्न नहीं है। आपके मार्ग का, आपके क्रमयुग का आश्रय लेकर, हम आनन्द से मोक्ष को साध रहे हैं, मोक्षपुरी की ओर आ रहे हैं। ●●

❖❖❖

*[भक्तामर स्तोत्र के इस 39 वें श्लोक में '**बद्धक्रम, क्रमगतं** और **क्रमयुग**' – ऐसे तीन शब्द हैं, उस ओर लक्ष्य खींचकर पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी ने कहा था कि देखो, प्रत्येक द्रव्य की पर्याय का उत्पाद-व्यय 'क्रमबद्ध' होता है – यह सिद्धान्त है। विश्व के समस्त पदार्थों में क्रमबद्ध -नियमित परिणमन और भगवान सर्वज्ञदेव को समस्त द्रव्य -गुण-पर्यायों का ज्ञान; इस प्रकार सर्वज्ञ के ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयों के परिणमनस्वभाव की सन्धि है, उसमें आगे-पीछे नहीं होता; अर्थात्, सर्वज्ञ जाने कुछ और पदार्थ में परिणमन हो दूसरा कुछ – ऐसा नहीं होता। ऐसे ज्ञानस्वभाव का निर्णय करनेवाले जीव को अपने में शुद्ध ज्ञानरूप मोक्षमार्ग का क्रम प्रारम्भ हो जाता है।*

*यह न्याय गुरुदेवश्री को अत्यन्त प्रिय था और उसका ज्ञानस्वभाव की सन्मुखताप्रेरक अतिसुन्दर, गम्भीर और स्पष्ट विवेचन गुरुदेवश्री ने 13 प्रवचनों में किया है। वे प्रवचन '**ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव**' नाम की पुस्तक में प्रकाशित हुए हैं। जिसका संकलन ब्रह्मचारी हरिभाई ने किया है। गुजराती आत्मधर्म वर्ष 12, अङ्क-133-34 में भी वे प्रकाशित हुए हैं। आत्मा के ज्ञानस्वभाव के निर्णय में अथवा सर्वज्ञ की श्रद्धा में, अन्तर्मुखी मोक्षमार्ग का कितना जोर आता है – यह बात बहुत अलौकिक शैली से गुरुदेवश्री ने समझायी है। साधर्मीजनों से इस ग्रन्थ का स्वलक्ष्यपूर्वक अध्ययन करने का विनम्र अनुरोध है।]*

काव्य : 40

कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पं,
दावानलं वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिङ्गम्।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं,
त्वन्नामकीर्तनजलं शमयत्यशेषम्॥ ४०॥

प्रलयकाल की पवन उठाकर, जिसे बढ़ा देती सब ओर।
फिकें फुलिंगे ऊपर तिरछे अंगारों का भी होवे जोर॥
भुवनत्रय को निगला चाहे, आती हुई अग्नि भभकार।
प्रभु के नाम-मन्त्र जल से वह, बुझ जाती है उस ही बार॥ ४०॥

काव्य - 40 पर प्रवचन

इस भक्तामर स्तोत्र में 'भयनिवारक' 9 श्लोक (38 से 46) हैं; उनमें 'गजभयभञ्जक' और 'सिंहभयभञ्जक' के बाद यह 'अग्निभयभञ्जक' नाम का तीसरा श्लोक है। हे देव! आपका मार्ग तो 'भव-भवभञ्जक' है, उसमें दूसरे भय की तो बात क्या बात!

आज से लगभग 18550 वर्ष के बाद इस भरतक्षेत्र में कल्पान्तकाल आयेगा, तब पञ्चम काल के अन्त में ऐसी भयंकर पवन चलेगी कि वृक्ष-मकान-पर्वत आदि सब उड़ जाएँगे, प्रलय हो जाएगी। ऐसे प्रलयकाल की प्रचण्ड वायु से महा अग्नि लगी हो, उस धधकती अग्नि की चिंगारी चारों ओर उड़ती हो, मानों कि विश्व को जला देगी – ऐसी आग का भभकता दावानल सामने आता होने पर भी, हे जिनदेव! आपके नामकीर्तनरूपी जल द्वारा वह एकदम शान्त हो जाता है; इस कारण जिसके अन्तर में आप विराजते हो, उसे अग्नि का भी भय नहीं है। जो जीव अन्तर में आपका ध्यान करता है, उसके अन्तर में संसार का दावानल प्रवेश नहीं कर सकता, शान्तरस के सिञ्चन से घोर भवाग्नि भी शान्त हो जाती है।

देखो तो सही, जिनगुणों की महिमा! यहाँ बाहर के संयोग की प्रधानता नहीं है, भक्त के अन्तर में वीतरागता का रस पकता है, उसका महत्त्व है। जहाँ वीतरागता है, वहाँ भय कैसा? जहाँ राग-द्वेष-कषाय है, वहीं भय है और वैराग्य तो अभय है। यह तो जिनभक्ति के बहाने भक्त के अन्तर में वीतरागता का घोलन है।

यहाँ कहते हैं कि हे देव! आपका नाम लेते ही अग्नि का उपद्रव शान्त हो जाता है; आत्मा, कषाय से छूट जाता है। अयोध्या के लोगों ने जैसे-तैसे बोलकर, जब किसी पापकर्म के उदय से सीताजी का अपवाद किया और श्रीराम ने उन्हें वन में भेज दिया और फिर अन्ततः उनका लोकोपवाद दूर करने तथा शील की प्रसिद्धि करने के लिए अग्निपरीक्षा रची; उसके लिए धधकती अग्नि का बड़ा कुण्ड तैयार किया और सीताजी उसमें कूदने के लिए तैयार हुई... तब पञ्च परमेष्ठी भगवन्तों का स्मरण करके वे कहते हैं कि 'मेरे हृदय में पञ्च परमेष्ठी विराजमान हैं; यदि मैंने अपने स्वामी (श्रीरामचन्द्र) के अतिरिक्त, दूसरे किसी पर पुरुष की स्वप्न में भी इच्छा की हो तो हे अग्नि! तू मुझे जलाकर भस्म कर देना और यदि मैंने दूसरे की इच्छा न की हो, अखण्ड शीलव्रत का पालन किया हो तो तू शान्त हो जाना.... मुझे स्पर्श मत करना।' – ऐसा कहकर सीताजी जहाँ अग्नि कुण्ड में प्रवेश करती हैं तो उनके पुण्योदय से एक देव के द्वारा वह अग्नि शान्त हो जाती है और सीताजी की शील की महिमा जगत्प्रसिद्ध होती है; पाप का उदय टलकर शुभ का उदय हो जाता है।

किसी को **प्रश्न** होता है कि अयोध्या में सीताजी की अग्नि तो शान्त हो गयी और शत्रुञ्जय पर्वत पर पाण्डव मुनियों की अग्नि शान्त क्यों नहीं हुई? वे तो अग्नि में जल गये।

उसका समाधान – सीताजी ने तो 'यदि शील हो तो अग्नि शान्त हो जाओ' – ऐसा कहकर पुण्य की उदीरणा की

थी, इस कारण अग्नि शान्त हो गयी; जबकि पाण्डवों ने ऐसी उदीरणा नहीं की थी, विकल्प नहीं किया था; अपितु निर्विकल्परूप से वीतरागी शुक्लध्यान में एकाग्र होकर, शान्तरस से कर्मों को क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया और मुक्त हुए; इसलिए उनको तो समस्त संसार-अग्नि शान्त हो गयी; उन्हें अग्नि का भय नहीं था। वे पाण्डव अग्नि में नहीं जले, शरीर जला परन्तु वे तो चैतन्य के हिमालय में प्रवेश करके शन्ति में स्थिर हो गये। अन्तर की चैतन्यगुफा में तो कषाय-अग्नि का या बाहर की अग्नि का सम्बन्ध ही कहाँ है? शरीर जला परन्तु चेतना नहीं जली; अग्नि ने देह को जलाया परन्तु वह उन्हें केवलज्ञान साधने में या मोक्ष प्राप्त करने में बाधक नहीं हो सकी; इसलिए उनको अग्नि का भय नहीं है।

हे जिनदेव! आपके भक्त चाहे जैसी अग्नि से भी, भय पाकर मोक्ष की साधना को छोड़ते नहीं है, वे तो अग्नि के बीच भी निर्भयपने मोक्ष को साधते हैं। हे देव! जिस प्रकार शीलधर्म के प्रताप से और आपके नामकीर्तन से सीताजी को अग्नि जला नहीं सकी, शान्त हो गयी; इसी प्रकार आपके धर्म की आराधना करनेवाले जीव को अग्नि नहीं जला सकती, अन्तर में और बाहर में भी अग्नि शान्त हो जाती है। अरूपी, अस्पर्शी आत्मा में अग्नि का स्पर्श कैसा?

धर्मात्मा, जहाँ स्वभाव के शान्तरस की गुफा में प्रवेश कर गया, वहाँ अब कषाय-अग्नि का या बाहर की अग्नि का सम्बन्ध कैसा? **'राग आग दहै सदा, तातैं समामृत सेईये'**

अर्थात् राग, वह आग है जो जीव को जलाती है; उससे बचने का एक ही उपाय है कि चैतन्य में प्रवेश करके शान्तभावरूप अमृत का सेवन करना। स्वानुभव के शान्तरस की धारा से राग बुझ जाता है। कषाय-अग्नि समस्त संसारी जीवों को जलाती है परन्तु वह जिनमार्ग के उपासक धर्मात्मा की ज्ञानचेतना को जला नहीं सकती; वह ज्ञानचेतना तो अन्तर के शान्तरस में मग्न है।

देखो तो सही! द्वारिका जैसी सुन्दर नगरी; इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने जिसकी रचना की, नेमिनाथ जहाँ अवतरित हुए और श्रीकृष्ण ने जहाँ राज्य किया; वह द्वारिका नगरी जब सुलगी, तब देव भी बचाने नहीं आये। छः महीने तक धू-धू करके जली, उसमें सभी नगरवासी और पशु-पक्षी भस्मीभूत हो गये, तथापि ऐसी अग्नि के बीच भी, जिसके अन्तर में जिनदेव विराजते हैं और जो जिनधर्म के आराधक हैं, उन्हें भय नहीं होता।

जहाँ जिनधर्म की आराधना से भव की अग्नि भी शान्त हो जाती है, वहाँ बाहर की अग्नि की क्या बात! इसलिए हे जीव! तू सर्व प्रकार का भय छोड़कर जिनधर्म की आराधना कर... जिनगुणकीर्तनरूप भक्ति में तत्पर हो! तेरे चैतन्यतत्त्व में आनन्द का शीतल कुण्ड है, उसमें प्रवेश करते ही कषायों का आताप शान्त हो जाएगा; बाहर में अग्नि के गोले बरसते हों तो भी तुझे भय नहीं होगा।

सर्वज्ञ-वीतरागता का कीर्तन करके, चैतन्य की शान्ति का

वेदन किया, वहाँ कषाय शान्त हो गयी, फिर बाहर का भय भी नहीं रहता; उसका चित्त शीतल-शान्त हो जाता है।

भेदविज्ञान जग्यो जिनके घट,
शीतल चित्त भयो जिम चन्दन।
कैलि करे शिवमारग में;
जगमाँहि जिनेश्वर के लघुनन्दन॥

जिसने भेदज्ञान करके शान्त आत्मा का शरण लिया, उसका चित्त शान्त हो गया, वह जिनेश्वर का नन्दन हुआ, सर्वज्ञ का पुत्र हुआ और आनन्द करता-करता शिवपुर के मार्ग में गमनशील होता है। भगवान के ऐसे भक्त को अग्नि आदि का भय नहीं होता। ●●

त्रिकाली द्रव्य की दास

जैसे भगवान किसी को वन्दन नहीं करते; वैसे ही निर्मल आत्मस्वभाव भी किसी को वन्दन या किसी का आदर नहीं करता। निर्मल पर्याय तो स्वभाव का वन्दन या आदर करती है, किन्तु निर्मल द्रव्यस्वभाव किसी को वन्दन नहीं करता। वह तो दृष्टि का विषय परिपूर्ण तत्त्व है, वह किसी को नमस्कार नहीं करता, किसी का सत्कार नहीं करता।

जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्यायें प्रगट होती हैं, वे त्रिकाली द्रव्य की दास हैं; परन्तु त्रिकाली द्रव्य किसी का दास नहीं है।

- विषापहार प्रवचन, पृष्ठ-116

काव्य : 41

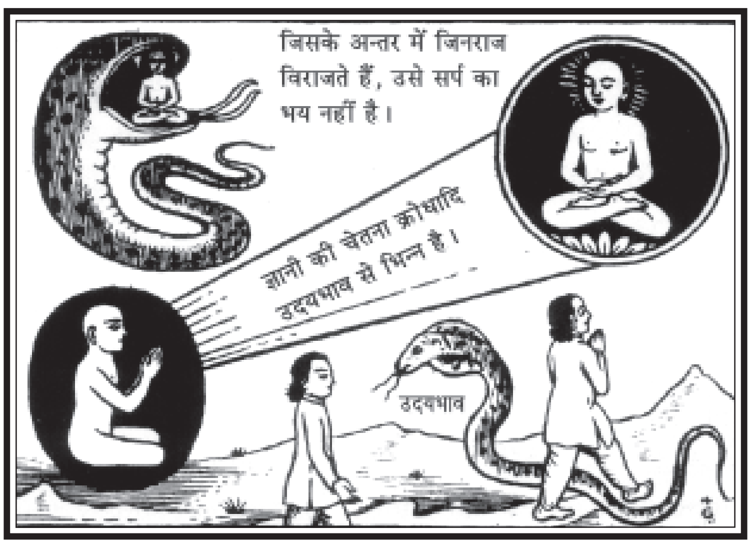

रक्तेक्षणं समदकोकिलकण्ठनीलं,
क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापतन्तम्।
आक्रामति क्रमयुगेण निरस्तशङ्क -
स्त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य पुंसः ॥ ४१ ॥

कंठ कोकिला सा अतिकाला, क्रोधित हो फण किया विशाल।
लाल-लाल लोचन करके यदि, झपटै नाग महाविकराल॥
नाम-रूप तव अहि दमनी का, लिया जिन्होंने ही आश्रय।
पग रखकर निशङ्क नाग पर, गमन करें वे नर निर्भय॥ ४१ ॥

काव्य - 41 पर प्रवचन

विभिन्न भयों का निवारण करनेवाले नौ श्लोकों में इस चौथे श्लोक का 'सर्पविषनिवारक स्तुति' है।

कैसा सर्प?.... जिसकी आँखे क्रोध से लाल हो गयी है, जो कोयल के कण्ठ जैसा काला है, जो अतिशय क्रोध से फण उछालता सामने आता है – ऐसा भयंकर फणधारी सर्प; उसे भी हे जिनेन्द्र! वह पुरुष निःशङ्कपने दोनों पैर से लाँघ जाता है, जिसके अन्तर में आपके मङ्गल नामरूपी 'नागदमनी' (नाग का जहर उतारने वाला मन्त्र अथवा गरुड़मणि) विद्यमान है। उसे सर्व का भय नहीं होता।

अहो, जिसके हृदय में सर्वज्ञ बैठे हो, जिसके पास सर्वज्ञ की श्रद्धारूप चैतन्यमणि है, उसे अब मिथ्यात्वरूपी सर्प का जहर कैसा? देखो न, छोटे-से महावीर प्रभु ने शान्तभाव से नाग को वश में किया; उसी प्रकार धर्मात्मा, चैतन्य के अनुभवरूप मन्त्र से मिथ्यात्वरूपी जहर को दूर करता है। सर्प का जहर तो एक बार मारता है, जबकि मिथ्यात्व का जहर तो संसार में अनन्त बार मारता है। उस मिथ्यात्व जहर को जिसने जिनशासन की उपासना से दूर किया, उसे अब बाहर में सर्प के विष का भय कैसा?

इस भक्तामर स्तोत्र के उपरान्त 'विष-अपहार' नाम से प्रसिद्ध एक स्तोत्र (ऋषभदेव भगवान की स्तुति) है, वह महाकवि धनञ्जय की रचना है। वे जिनभक्त थे। एक बार वे जिनमन्दिर में एकाग्रतापूर्वक पूजन तथा जिनगुणों का चिन्तन

कर रहे थे – इतने में घर पर उनके पुत्र को सर्प ने डस लिया। उस पुत्र की माता ने उन्हें घर बुलाने के लिए आदमी भेजा परन्तु भक्ति कार्य अधूरा रखकर वे घर नहीं गये। इससे क्रोधित होकर / चिढ़कर विष से अचेत हुए पुत्र को लेकर उसकी माँ उनके पास मन्दिर में रख गयी और कहा कि लो, यह तुम्हारा पुत्र! भगवान के बड़े भक्त हो तो बचाओं अपने पुत्र को!

कवि धनञ्जय, जिनभक्ति पर कटाक्ष समझ गये। पूजा –चिन्तन आदि कार्य पूर्ण होते ही उन्होंने '**स्वात्मस्थितः सर्वगतः समस्त...**' इस पद से प्रारम्भ करके 40 श्लोकों द्वारा जिनभक्ति की (विषापहार–स्तोत्र की) अद्भुत भावभीनी रचना की और यह स्तुति बोलते ही सबके आश्चर्य के बीच अचेत पुत्र का जहर उतर गया और मानो वह निद्रा से जागृत हुआ है, वैसे चलकर घर पहुँचा।

जिनभक्ति के प्रताप से शुभकर्म की उदीरणा होते ही कई बार ऐसे आश्चर्यकारी प्रसङ्ग बन जाते हैं, परन्तु वहाँ धर्मात्मा का आशय तो वीतरागता का गुणगान और वीतरागता की भावना का ही होता है, उसे लौकिक फल की आशा नहीं होती। जिसे मात्र लौकिक फल की आशा होती है, उसे बाहर में जब ऐसे प्रसङ्ग नहीं बनते, तब धर्म की श्रद्धा स्थिर रखना कठिन होगी। वर्तमान में किसी को अशुभकर्म के योग से बाहर में ऐसे योग नहीं बने तो भी अन्तर की जिनभक्ति तो निष्फल जाती ही नहीं, उसका उत्तम फल तो आता ही है।

चैतन्यस्वभाव में मोह का जहर (विष) उतारने की सामर्थ्य

है। जिसके पास जहर उतारने का अमुक मन्त्र, जड़ी-बूटी या मणि हो तो वह सर्पों से भरे हुए भयानक जङ्गल के बीच जाए तो भी उसे सर्प उपद्रव नहीं करते अथवा जहर नहीं चढ़ता। एक आदमी के जीभ में कोई ऐसी रचना थी कि जीभ के ऊपर जहरीला सर्प काटे तो भी उसे जहर नहीं चढ़ता था। ऐसे जीव, निर्भयरूप से सर्प को लाँघकर चले जाते हैं। इसी प्रकार जिसके पास ज्ञायकभाव का स्वाद है, ज्ञायक का मन्त्र और जड़ी-बूटी है, चैतन्य की चिन्तामणि है – ऐसे धर्मात्मा जीव, क्रूर कर्मों के उदयरूप काले नाग को भी पैर के नीचे कुचलकर निर्भयरूप से मोक्ष के मार्ग में गमन करते हैं; उदय का जहर उसकी चेतना को प्रभावित नहीं करता; उसकी ज्ञानचेतना, उदयभावों से भिन्न और अलिप्त ही रहती है। उस चेतना में काला नाग भी भय नहीं करता।

हे नाथ! कैसी भी परिस्थिति के बीच जहाँ हम आपकी सर्वज्ञता का स्मरण और ज्ञानस्वभाव की भावना करते हैं, वहाँ हमें कोई शङ्का अथवा भय नहीं रहता। हम उदयरूपी काले नाग को भी लाँघकर निर्भयरूप से आपके मार्ग में चले आते हैं।

देखो तो सही, भगवान की भक्ति का रणकार! और भक्त को आत्मविश्वास!! ऐसे भाव जिसने प्रगट किये, उसने भगवान की सच्ची शरण ली है। जिसने ऐसे अन्तर्मुखभाव से भगवान की शरण ली है, उसे अब जगत् में किसी का भय नहीं है; उसे मोक्ष के मार्ग में जाने से कोई रोक नहीं सकता; उसके चैतन्य प्रदेश में अब मोह का जहर नहीं चढ़ेगा; उसकी जीभ में (चेतना में) अमृत वसता है।

कदाचित् कोई धर्मात्मा, बाहर में सर्प को देखकर भय से भागता है तो भी उस समय उसे स्वभाव की और जिनमार्ग की शरण नहीं छूटी है; उदय और ज्ञान के भेदज्ञानरूप मन्त्रविद्या से वह सर्प को तथा भय को – दोनों को अपनी चेतना से भिन्न ही रखता है। वह चैतन्य में प्रवेश करके निर्भयरूप से मोक्ष को साधता है।

किन्हीं मुनिराज को ऐसी ऋद्धि होती है कि किसी को जहरीले सर्प ने काटा हो, वहाँ उन मुनिराज के शरीर से स्पर्शित हवा आये, तो उसका जहर उतर जाता है। तो हे सर्वज्ञदेव! आप तो जगत् में सर्वोत्कृष्ट केवलज्ञान ऋद्धिवाले हो, आपकी सर्वज्ञता को स्पर्श करके आती हुई श्रद्धारूपी हवा से जीवों के मिथ्यात्व का जहर उतर जाए – इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। आपके भक्त को मिथ्यात्वरूपी सर्प काट नहीं सकता और बाहर का सर्प भी उसकी आत्मसाधना को रोक नहीं सकता।

देखो, भगवान पार्श्वनाथ पूर्व के छठवें भव में जब अग्निवेग मुनिराज थे और ध्यान में विराजमान थे, तब अजगर हुआ कमठ का जीव, मुनि को पूरा का पूरा मुख में निगल गया। मुनिराज उस अजगर के मुख के बीच में भी भयभीत नहीं हुए, उन्होंने आत्मा की आराधना नहीं छोड़ी, क्योंकि उस समय भी उनके अन्तर में ज्ञायकतत्त्व के वेदन का अमृत विद्यमान था। यह ज्ञायकतत्त्व की भावना ही संसार का जहर उतारने की सच्ची जड़ी-बूटी है और यही सच्ची जिनभक्ति है।

इस प्रकार 'सर्पविषनिवारक' श्लोक द्वारा जिनस्तुति की है। अब 'शत्रुभयनिवारक' श्लोक द्वारा जिनस्तुति करते हैं। ●●

काव्य : 42

वल्गत्तुरङ्ग गजगर्जित भीमनाद -
माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम्।
उद्यद्दिवाकर मयूखशिखापविद्धं,
त्वत्कीर्त्तनात्तम इवाशुभिदामुपैति॥ ४२॥

जहाँ अश्व की और गजों की, चीत्कार सुन पड़ती घोर।
शूरवीर नृप की सेनाएँ, रव करती हों चारों ओर॥
वहाँ अकेला शक्तिहीन नर, जप कर सुन्दर तेरा नाम।
सूर्य तिमिर सम शूर-सैन्य का, कर देता है काम तमाम॥ ४२॥

काव्य - 42 पर प्रवचन

इस श्लोक का नाम 'शत्रुभयनिवारक स्तुति' है।

हे जिनदेव! उछलते और गर्जना करते हुए हाथी-घोड़ों या भयंकर कोलाहल से भरी हुई युद्धभूमि में बलवान शत्रु राजाओं की सेना के बीच घिरा हुआ होने पर भी, आपका भक्त, जहाँ आपका स्मरण-कीर्तन करता है, वहाँ तो, जैसे सूर्य के उदय से अन्धकार भिद जाता है; वैसे शत्रु सेना विजित हो जाती है, छिन्न-भिन्न हो जाती है। प्रभो! अन्तर में हम आपके मार्ग की उपासना करते हैं, वहाँ उदयभावों का घेरा भिदकर छिन्न -भिन्न हो जाता है। इस प्रकार जिसके अन्तर में जिनराज विराजमान है, उसे शत्रु सेना का या उदयभावों को भय नहीं है; उससे भिन्न रहकर निर्भयरूप से वह मोक्ष को साधता है।

कई बार धर्मी राजा भी युद्ध में पराजित हो जाएँ, (जैसे – भरत राजा, युद्ध में बाहुबली से हार गये) अशुभोदय से ऐसा हो परन्तु ज्ञानी-धर्मात्मा की ज्ञानचेतना तो अशुभोदय से पराजित नहीं होती। ज्ञानचेतना में 148 कर्मप्रकृतियों के बन्धन को तोड़ने की सामर्थ्य है, वहाँ दूसरे बन्धन की क्या बात! कहते हैं कि मानतुङ्ग स्वामी के बन्धन भी इस स्तुति से टूट गये थे।

अरे, निश्चयजिनभक्ति से 148 कर्मप्रकृतियों के बन्धन भी टूट जाते हैं तो फिर व्यवहारभक्ति से पुण्य की उदीरणा होने से किसी का बन्धन टूट जाता हो तो इसमें क्या आश्चर्य है! और परमात्मतत्त्व की भावनावाले को बन्धन कैसा? परमात्मभावना

की अचिन्त्य सामर्थ्य से मोहादि के बन्धन भी तड़-तड़ करते टूट पड़ते हैं। ज्ञानी की चेतना अन्तर में निर्भयरूप से मोहादि शत्रु को जीत लेती है और वहाँ विशिष्ट पुण्य-योग से बाहर के शत्रु भी जीत लिये जाते हैं। हे देव! यह आपकी भक्ति का ही प्रभाव है – ऐसा कहकर सर्वज्ञपद का कीर्तन किया है, उसकी महिमा की है और उस परमपद की भावना की है।

प्रभो! आप परमात्मा हमारे पक्ष में, अर्थात् हृदय में विराजते हो, फिर हमारे सामने शत्रु का बल कैसा? बलवान मोहरूपी शत्रु का जोर भी हमारी चेतना के सामने चल नहीं सकता। युद्धभूमि में हाथी-घोड़े उछलते हों, तोप के गोले या बम के गोले बरसते हो; उनके बीच भी भयभीत होकर ज्ञानी कभी जिनमार्ग नहीं छोड़ते। जैसे, सूर्योदय होने पर अन्धकार दूर भाग जाता है; वैसे ही जिनभक्तिरूप सूर्य के प्रताप से अशुभकर्म दूर हो जाते हैं।

हे देव! जहाँ आपके केवलज्ञान का स्वीकार और सत्कार करते हैं, वहाँ ज्ञानचेतना झलक उठती है और मिथ्यात्वादि अन्धकार दूर भागता है, पापकर्म भी पलट जाते हैं। इस प्रकार हे विजेता जिन! आपके सम्यक्मार्ग की शरण लेते ही हमारी भी संसार के सामने विजय ही है; संसार को भेदकर हम अपने सर्वज्ञपद को जीत लेंगे, केवलज्ञान वैभव प्राप्त करेंगे।

— इस प्रकार निश्चय-व्यवहार की सन्धिसहित जिनभक्ति करते-करते साधक जीव, आह्लादपूर्वक अपने सिद्धपद को साधते हैं – ऐसी अपूर्व भक्ति का यह वर्णन है। ●●

काव्य : 43

कुन्ताग्रभिन्नगजशोणितवारिवाह-
वेगावतारतरणातुर–योधभीमे ।
युद्धे जयं विजितदुर्जयजेयपक्षा-
स्त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिणो लभन्ते ॥ ४३ ॥

रण में भालों से वेधित गज, तन से बहता रक्त अपार।
वीर लड़ाकू जहँ आतुर हैं, रुधिर–नदी करने को पार॥
भक्त तुम्हारा हो निराश तहँ, लख अरि सेना दुर्जयरूप।
तव पादारविन्द का पा आश्रय, जय पाता उपहार–स्वरूप॥ ४३ ॥

काव्य - 43 पर प्रवचन

इस श्लोक का नाम 'युद्धभयनिवारक स्तुति' है।

भक्त मुमुक्षु, भयंकर युद्धभूमि के बीच भी जिनराज को नहीं भूलता है। जिस युद्धभूमि में भाले की अणी से भिद गये हाथी की रक्त-रञ्जित धारा पानी के प्रवाह की भाँति बहती हो और योद्धा उस रक्त के प्रवाह को लाँघकर आकुल-व्याकुल होकर दौड़ते हों – ऐसे भयंकर युद्ध में, जिसे जीतना कठिन हो – ऐसे शत्रुओं को भी, हे जिनेन्द्र! आपके पादपङ्कजरूप वन का आश्रय करनेवाले भव्यजीव, खेल-खेल में जीत लेते हैं।

प्रभो! हमने आपके समान अजेय सर्वज्ञपुरुष का आश्रय लिया, अब हमें जीतनेवाला कौन? – हमारी ही विजय है। शुभाशुभकर्मों के उदयरूप युद्धभूमि में अपना शुद्ध-बुद्धस्वभाव अनन्त गुणरूपी पुष्पों से खिला हुआ बगीचा है, इसका जो आश्रय लेता है, वह उदय की सेना को जीत लेता है; अन्तरङ्ग या बाह्य शत्रु से भयभीत नहीं होता; स्वभाव में निःशङ्क और निर्भयरूप से अपने मोक्ष-साम्राज्य को साधता है। जैसे, सुन्दर उपवन की शीलत छाया का आश्रय करनेवाले को आताप नहीं लगता; वैसे ही स्वभाव के अति सुन्दर शान्त चेतनबाग में विश्राम करनेवाले को संसार का या शत्रु का आताप नहीं लगता, वह तो शीतल-शान्ति का वेदन करता है।

हे देव! यह आत्मा के सर्वज्ञपद की और जिनपद की महिमा है। जिसके अन्तर में आपके सर्वज्ञपद की अचिन्त्य महिमा वस गयी हो, उसे अब निर्भयपने मोहरूपी शत्रु को जीतने

से कोई नहीं रोक सकता है। युद्धभूमि के बीच भी मानो शान्त बगीचे में बैठा हो, उस प्रकार उदयभावों के बीच भी धर्मी – जिनभक्त, शान्त–चैतन्यरूपी बाग में केलि / क्रीड़ा करता है।

जिस प्रकार, श्रीकृष्ण जैसे पुण्यवन्त महात्मा जिसके पक्ष मे हों, उसकी जीत होती ही है; वैसे ही सर्वज्ञस्वभावी परमात्मा जिसके हृदय में हो, उसकी मोह के सामने जीत ही होती है। धर्मात्मा, युद्धभूमि के बीच भी परमात्मा को नहीं भूलता, स्वभाव को नहीं भूलता। उस समय शरीर और रागादि से भिन्न चिदानन्दस्वभाव की श्रद्धा–ज्ञान उसे अखण्डपने चालू रहते हैं और उसके जोर से वह मोह–विजेता बनता है तथा पुण्ययोग से बाहर के शत्रु को भी वह जीत लेता है। धर्मात्मा को साधकदशा में विशिष्ट पुण्य बँधता है, उसका उदय आते ही वह बाहर के शत्रु को भी युद्ध में जीत लेता है; अजेय शत्रु भी उसका दास बन जाता है।

मथुरानगरी के राजा मधु, सम्यग्दृष्टि थे। भरत के साथ लड़ते–लड़ते उनका शरीर बाणों से विध गया परन्तु वे धर्म को नहीं भूले, अपितु विशेष वैराग्यभावना जागृत हुई और घायलरूप में हाथी पर बैठे–बैठे ही संयम धारण करके समाधिमरण किया। कर्म का उदय उनके धर्म को घायल नहीं कर सका, उन्होंने वीतरागभाव से उदय को जीत लिया।

देखो, बाहर का शत्रु नहीं जीत पाये, स्वयं घायल हुए तो भी मोहशत्रु को जीत लिया। युद्धभूमि के बीच हाथी पर बैठे –बैठे, घायल शरीर में भी अन्दर की चेतना को घायल नहीं

होने दिया; चेतना को जागृत करके वैराग्यपूर्वक संयम धारण किया। इस प्रकार जिनदेव के भक्त, किसी भी स्थिति में जिनधर्म को नहीं भूलते; इसलिए उनकी विजय ही है। एक प्रकार से देखें तो समस्त संसार, वह उदयभावों के साथ संग्राम है, उसमें साधक जीव, जिनभक्तिरूप शान्त हथियार द्वारा विजय प्राप्त करते हैं। ●●

निज परमात्मा का भजन

यदि भगवान की भक्ति करने से अन्तर में निज परमात्मा का भजन हो जाए तो उसके फल में आत्मा मुक्तिरूप इच्छित फल को प्राप्त कर सकता है; अतः किसी भी प्रकार निज परमात्मा को ही भजना चाहिए; अन्यथा मात्र व्यवहारभक्तिरूप शुभभाव तो पापानुबन्धी पुण्य का कारण है।

हे भगवान! आपकी स्तुति से, भक्ति से, नमस्कार से, ध्यान से जीवों को इच्छित फल की प्राप्ति होती है; अतः मैं हमेशा आपकी भक्ति करता हूँ, ध्यान करता हूँ, नमस्कार करता हूँ क्योंकि मुझे किसी भी प्रकार से अन्तर कारणपरमात्मा में एकाग्र होकर श्रद्धा-ज्ञान एवं चारित्र प्रगट करना है, जिससे मोक्ष की अर्थात् मेरे द्वारा इच्छित फल की प्राप्ति होती है।

श्रद्धा, ज्ञान एवं स्थिरता के अतिरिक्त अन्य किसी भी मार्ग से मोक्षदशा की उपलब्धि नहीं हो सकती; अतः किसी भी प्रकार इस मार्ग पर चलकर मुझे मोक्षफल प्राप्त करना है।

- विषापहार प्रवचन, पृष्ठ-121

काव्य : 44

अम्भोनिधौ क्षुभितभीषणनक्रचक्र-
पाठीनपीठ-भयदोल्वणवाडवाग्नौ।
रङ्गत्तरङ्गशिखरस्थितयानपात्रा -
स्त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद् व्रजन्ति॥ ४४॥

वह समुद्र कि जिसमें होवे, मच्छ मगर एवं घड़ियाल।
तूफाँ लेकर उठती होंवे, भयकारी लहरें उत्ताल॥
भंवर-चक्र में फँसी हुई हो, बीचों बीच अगर जल-यान।
छुटकारा पा जाते दुःख से, करनेवाले तेरा ध्यान॥ ४४॥

काव्य - 44 पर प्रवचन

इस श्लोक का नाम 'जलविपत्तिनाशक' अथवा समुद्रभय-निवारक' स्तुति है।

भयंकर मगर–मच्छ, जल घोड़ा आदि क्रूर जलचर प्राणी, बड़े–बड़े स्टीमर / जहाज भी जिसके मुख में चले जाएँ – ऐसे बड़े भीमकाय मच्छ के उछाले से जो क्षुब्ध–डाँवाडोल हो रहा है – ऐसा समुद्र, और फिर समुद्र के बीच महा वड़वानल अग्नि फटी हो – उस समुद्र के बीच उछलती तूफानी लहरों पर डगमगाती नौका में बैठा हुआ पुरुष भी, हे जिनेन्द्र! आपका स्मरण करता है, वहाँ वह त्रासरहित होकर उस समुद्र को पार करता है। अहा! आपके गुणों के चिन्तवन से तो भवसमुद्र का भी पार पाया जा सकता है, तब दूसरे समुद्र की क्या बात! तूफानी भवसमुद्र के बीच भी, जिसके अन्तर में जिनस्वभाव का चिन्तवन है, वह निर्भयरूप से संसारसमुद्र को पार करता है।

एक श्रद्धालु–पुण्यवन्त सेठ व्यापार करता था। उसका एक जहाज माल भरकर आ रहा था। परदेश से 100 जहाज आ रहे थे, उसमें एक जहाज सेठ का था। इतने में मुनीमजी समाचार लाये कि सेठजी! जो एक सौ जहाज आ रहे थे, उनमें से मात्र एक जहाज बचा है, शेष निन्यानवें जहाज समुद्र में डूब गये हैं। सेठजी ने रञ्चमात्र घबराये बिना कहा – मुनीमजी! चिन्ता मत करो; जाओ, जाँच करो... जो एक जहाज बचा है, वह अपना ही होगा। मुझे अपने पुण्य का विश्वास है। मेरा जहाज, समुद्र में नहीं डूबा होगा। मुनीमजी के जाँच करने पर जो एक जहाज बचा था, वह सेठजी का ही था।

उसी प्रकार यहाँ सम्यग्दृष्टि–धर्मात्मा को, भगवान के भक्त

को जिनमार्ग का और परमात्मस्वभाव का विश्वास है कि मेरा जहाज, अर्थात् मेरा आत्मा, संसाररूपी समुद्र में नहीं डूबेगा। संसार में तिरनेवाले जीव थोड़े हैं, उनमें मैं हूँ। संसाररूपी समुद्र में पुण्य-पाप के अनेक तूफान हैं उनकी लहरों के बीच भी मेरा आत्मा, मोक्ष को साधने के मार्ग में ही है; इस प्रकार अपने परमात्मस्वभाव का विश्वास और जिनमार्ग की भक्ति, धर्मी जीव को क्षणमात्र भी नहीं छूटती; वह निर्भयरूप से भवसमुद्र से तिर जाता है। जिनदेव की भक्ति, भवसमुद्र को पार करानेवाली नौका है, उसमें बैठकर साधक जीव, मोक्षपुरी में पहुँच जाते हैं।

अहा! जिसके अन्तर में जिनदेव विराजमान हैं, राग से भिन्न शुद्ध चैतन्यतत्त्व जिसके अनुभव में हैं, उसे तो भव का यह बड़ा समुद्र भी, गाय के खुर से छोटे-से डबरे जैसा अल्प हो जाता है; वह खेल-खेल में उसे लाँघ जाता है। धर्मी को विश्वास है कि जिनमार्ग के प्रताप से मैं अब भवसमुद्र को तैरकर मुक्तिपुरी के किनारे पहुँच गया हूँ। इस प्रकार हे देव! आपका भक्त किसी भी प्रकार के त्रासरहित निर्भयपने मोक्ष को साधता है। जिस प्रकार आप भवसागर से तिर गये हो, उसी प्रकार आपका भक्त भी आपको दृष्टि में रखकर भवसमुद्र में तिर जाता है। ●●

काव्य : 45

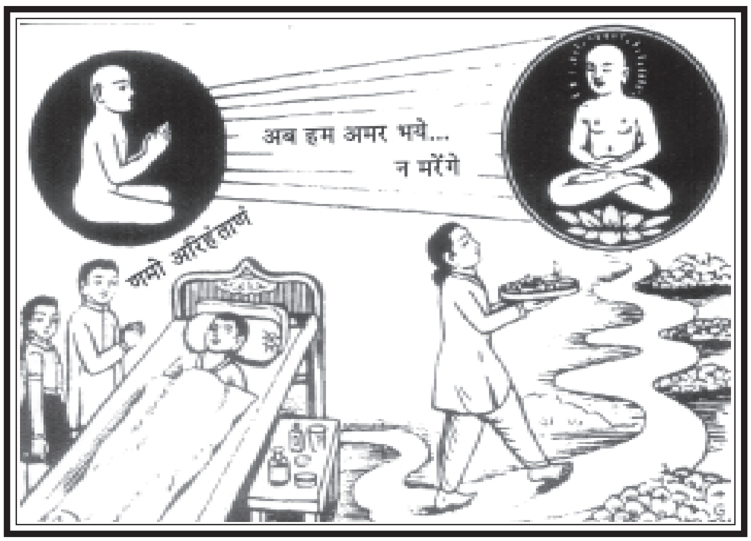

उद्भूत-भीषण-जलोदर-भार भुग्नाः
शोच्यां दशामुपगताश्च्युत-जीविताशाः ।
त्वत्पादपङ्कजरजोऽमृत दिग्ध-देहा,
मर्त्या भवन्ति मकरध्वज तुल्यरूपाः ॥ ४५ ॥

असहनीय उत्पन्न हुआ हो, विकट जलोधर पीड़ा भार।
जीने की आश छोड़ी हो, देख दशा दयनीय अपार॥
ऐसे व्याकुल मानव पाकर, तेरी पद-रज संजीवन।
स्वास्थ्य लाभकर बनता उसका, कामदेव सा सुन्दर तन॥ ४५ ॥

काव्य – 45 पर प्रवचन

हे जिनेन्द्र! उत्पन्न हुए भयंकर जलोधर रोग के भार से जो टूट पड़ा है, जिसकी दशा अत्यन्त करुणाजनक है और जिसके जीवन की भी आशा नहीं है – ऐसा मनुष्य भी, यदि आपके पादपङ्कज की रजरूप अमृत से अपने शरीर को सींचता है तो वह पुरुष रोगरहित और कामदेव जैसे सुन्दर रूपवाला बन जाता है।

अहो देव! शुद्ध चैतन्यरूप आपको पहचानते ही मिथ्यात्व जैसा भयंकर मोहरोग भी क्षण में दूर हो जाता है और आत्मा सम्यक्त्व के अपूर्व रूप को धारण करके अल्प काल में स्वयं आपके समान परमात्मा बन जाता है। वहाँ आपकी भक्ति के प्रताप से (शुभभाव से पुण्य की उदीरणा होने पर) बाह्य रोग मिटकर सुन्दर रूप की प्राप्ति हो तो उसमें क्या बड़ी बात है!

जिसका पेट जलोधर से फूलकर फट पड़ता हो, शरीर एकदम बैडोल हो गया हो, चल भी नहीं सकता हो, मरणतुल्य दशा हो गयी हो, जहाँ दुनिया की अन्य कोई औषधि काम नहीं करती हो – ऐसे रोग में या कोढ़ आदि भयानक रोग में भी जिनगुणों की महिमारूप औषधि का जो सेवन करता है, वह निरोग हो जाता है, उसे कामदेव जैसा सुन्दर रूप प्राप्त होता है। इस प्रसङ्ग के लिए राजा श्रीपाल आदि का दृष्टान्त पुराणों में प्रसिद्ध है। ऐसे प्रसङ्ग किसी को बनते हैं, किसी को बाहर में नहीं भी बनते।

सनतकुमार चक्रवर्ती, जिसके रूप की प्रशंसा देवों ने भी की, वे साधु हुए और शरीर में भयंकर कुष्ठरोग हो गया... परन्तु चैतन्य की साधना में मस्त उन्हें शरीर के रोग की चिन्ता कहाँ थी? अरे, एक देव, वैद्य का रूप धारण करके रोग मिटाने आया... तब साधु सनतकुमार कहते हैं – मुझे तो मेरा भवरोग मिटा देना है। इस शरीर का रोग तो मुँह का थूक लगाते ही मिट जाता है। (उनको ऐसी लब्धि थी) इस प्रकार शरीर में रोग आये तो भी धर्मात्मा निर्भयरूप से आत्मा को साधता है।

कितने ही मुनिराजों को ऐसी लब्धि होती है कि उनके शरीर को स्पर्श करके जो हवा आती है, उससे कैसा भी रोग दूर हो जाता है; उनके चरण से स्पर्शित धूल से भी रोग दूर हो जाते हैं। केवली भगवान को तो 'चरणरज' नहीं होती, वे तो आकाश में विचरण करते हैं परन्तु चरणरज कहने से भगवान के चरणों के प्रति भक्ति समझना; उससे रोग मिट जाते हैं।

हे देव! आपके चरण की रज / धूल से भी भयंकर रोग मिट जाते हैं, तो फिर साक्षात् आपको ही अपने हृदय में विराजमान करने से हमारा मोहरोग मिट जाए, इसमें क्या आश्चर्य है? आप जहाँ विराजते हो, वहाँ कोई रोग नहीं रहता।

हे जिनदेव! आपके द्वारा कथित शुद्ध चैतन्यतत्त्व की सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानरूपी अमृत से जो अपने असंख्य प्रदेश को सींचता है, उसके मिथ्यात्वादि सर्व रोग दूर हो जाते हैं और

सम्यक्त्वादिरूप सुन्दरता प्रगट होती है; वह सम्पूर्ण निरोगी – ऐसे सिद्धपद को प्राप्त करता है। बीच के काल में इन्द्र –कामदेव–चक्रवर्ती – तीर्थङ्कर आदि दिव्यरूपवाली पदवी सहज बिना इच्छा के ही प्राप्त हो जाती है। बाहुबली, कामदेव थे, भरत राजा चक्रवर्ती थे, ऋषभदेव, तीर्थङ्कर थे परन्तु वे सब अन्तर में देह से भिन्न अतीन्द्रिय चैतन्यपद को देखनेवाले थे और उसी की उपासना से सिद्धपद को प्राप्त किया है।

भगवान के भक्त का ध्येय पुण्य में, राग में या संयोग में नहीं है; उसके ध्येय में तो शुद्ध आत्मा ही है; वह परमात्मा के समान अपने शुद्धात्मा को ध्येय बनाकर निर्भयपने मोक्षमार्ग में विचरता है। परमात्मपना ही आत्मा का सर्वोत्कृष्ट सुन्दर रूप है। जिनचरण का अमृत सेवन करनेवाले को उसकी प्राप्ति होती है। ●●

देखो ! यह है भक्ति !!

प्रभु ! मुझे विश्वास है कि आप मेरे ऊपर दया–कृपा करेंगे ही। आपके केवलज्ञान में भी आ गया है कि मेरी पर्याय निर्मल होगी ही और मैं अपने आत्मा का आदर भी करता ही हूँ; अतः वह आत्मा कृपा करके मुझे निर्मल पर्याय प्रदान करेगा ही।

– विषापहार प्रवचन, पृष्ठ–132

काव्य : 46

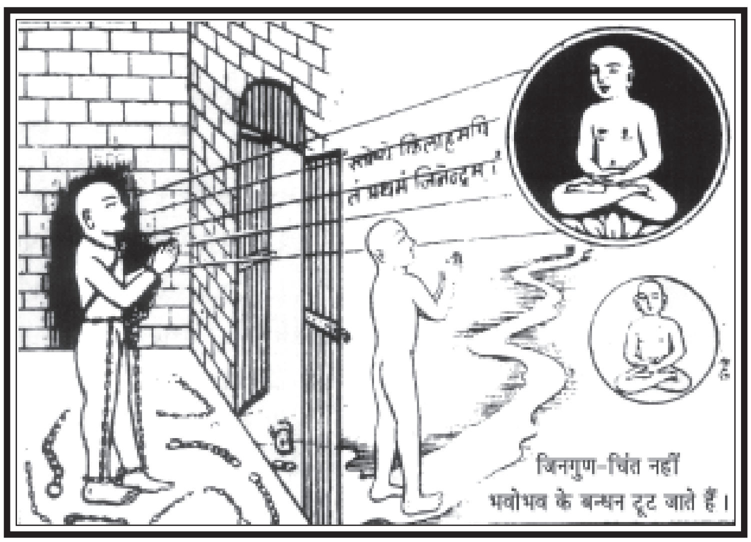

आपादकण्ठमुरुश्रृङ्खलवेष्टिताङ्गा,
गाढं बृहन्निगड़कोटिनिघृष्टजङ्घाः।
त्वन्नाममन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः
सद्यः स्वयं विगतबन्धभया भवन्ति॥ ४६ ॥

लोह श्रृंखला से जकड़ी है, नख से शिख तक देह समस्त।
घुटने-जंघे छिले बेड़ियों से, अधीर जो हैं अतित्रस्त॥
भगवन् ऐसे बन्दीजन भी, तेरे नाम-मन्त्र की जाप।
जप कर गत-बन्धन हो जाते, क्षण भर में अपने ही आप॥ ४६ ॥

काव्य - 46 पर प्रवचन

हे जिनेन्द्र देव! जिसे पैर से लेकर गले तक विशाल बेढ़ियों से बाँधा गया है, गाँठ बँधी हुई लोहे की बेड़ी के घर्षण से जिसकी जङ्घा-पैर आदि छिल गये हैं – ऐसा पुरुष भी यदि आपके नामरूपी मन्त्र का निरन्तर स्मरण करता है तो तुरन्त ही वह स्वयं बन्धन के भय से छूट जाता है।

इस स्तोत्र द्वारा जिनस्तुति करते हुए मानतुङ्ग मुनिराज के स्वयं को बेड़ी आदि के बन्धन टूट गये थे – यह बात प्रसिद्ध है; इस प्रकार पुण्ययोग से किसी को बाहर के बन्धन टूट जाते हैं, किसी के नहीं भी टूटते, फिर भी 'बन्धन का भय' तो छूट ही जाता है। **(विगतं बंधभया भवंति),** तथा अन्दर के मोह बन्धन तो निश्चित रूप से टूट ही जाते हैं। धर्मात्मा, कारावास (जेल) में बैठे-बैठे भी 'जिनगुण चिन्तन' द्वारा 'निजगुण-चिन्तन' से, अर्थात् आत्मा के शुद्धस्वरूप के चिन्तन से अपने को 'मुक्त' अनुभव कर सकते हैं। वहाँ उसे बन्धन का भय नहीं रहता; जेल का ताला उसे रोक नहीं सकता और सुविशुद्ध परिणाम के लिए उसे पूर्वबद्ध कर्म भी तड़-तड़ करके टूट जाते हैं।

यहाँ भक्तामर स्तोत्र की रचना में बेड़ी के बन्धन या जेल के ताले तो टूट गये, परन्तु ऐसा प्रसङ्ग न बने तो भी शुद्धभाव से जिनगुणस्तवन की महिमा कोई कम नहीं है। जिनदेव के प्रति 'भाव नमस्कार' को तो पाप का नाशक, पुण्य का वर्द्धक और परम्परा मोक्ष का फल देनेवाला कहा है।

(भगवती आराधना : गुजराती गाथा 752, 761)।

श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने भी प्रवचनसार गाथा ८० में कहा है —

द्रव्य गुण पर्याय से जो जानते अरहंत को।
वे जानते निज आत्मा दृगमोह उनका नाश हो॥

अरहन्त भगवन्त, द्रव्य से-गुण से-पर्याय से सर्व प्रकार से शुद्धचेतनामय है, राग का अंश भी उनमें नहीं है; मेरे आत्मा का शुद्धस्वरूप भी अरहन्त जैसा शुद्धचेतनामय और रागरहित है – ऐसा अन्तर्मुख अभ्यास करते ही अपनी चेतना, राग से भिन्न होकर, शुद्ध चैतन्यस्वरूप में ही लीन होकर निर्विकल्प अनुभूति होती है और उस चेतना में मोह नहीं रह सकता। इस प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त करके वह जीव, मिथ्यात्व का नाश करता है – यह सच्ची जिनभक्ति का फल है। इसे ही (समयसार गाथा 31 में) सर्वज्ञ की परमार्थ स्तुति कहा गया है।

देखो तो सही, जैन सन्तों की बात! चारों ओर से एक ही प्रयोजन बताकर शुद्धात्मा में ले जाते हैं और बन्धन से छुड़ाते हैं। 'जिन जैसे निज' स्वभाव में एकाग्रतारूप, अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो परमार्थ जिनभक्ति है, उससे मिथ्यात्व से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के सभी कर्मबन्धन की बेड़ी नष्ट हो जाती है और आत्मा स्वयं मुक्त-सर्वज्ञ परमात्मा बन जाता है।

आत्मा का स्वभाव बन्धनरहित, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है, उसकी उपासना करनेवाला जीव, बन्धन में क्यों रहेगा? जिनदेव के भक्त को, अर्थात् शुद्धात्मा के उपासक को ऐसा भय या शङ्का

नहीं रहती कि 'मुझे अभी अनन्त भव तक बन्धन रहेगा!' स्वभावसन्मुख होकर मैं मोक्ष के मार्ग पर चल रहा हूँ तो अब अनन्त भव हैं ही नहीं; अल्प काल में ही मुक्ति होना है – वह धर्मी जीव ऐसा निःशङ्क होता है। जिसके अन्तर में भवरहित भगवान बैठे हों, अब उसे भव कैसा? और बन्धन का भय कैसा? मुक्त परमात्मा मेरे अन्तर में... मेरी चेतना में विराजते हैं तो अब मेरी चेतना में मोह का या कर्म का बन्धन नहीं रह सकता – इस प्रकार धर्मी निःशङ्क है।

श्री मानतुङ्गस्वामी प्रभावशाली दिगम्बर मुनि थे; प्रसिद्ध कथा के अनुसार उज्जैन के राजा भोज ने उनकी शक्ति की परीक्षा करने के लिए बेड़ी के बन्धन बाँधकर उन्हें जेल में डाल दिया था। उस समय भगवान आदिनाथ जिनेन्द्र की स्तुति करते-करते, उनकी बेड़ी के बन्धन टूट गये और कर्म के बन्धन भी टूट गये। उस प्रसङ्ग में उन्होंने भगवान ऋषभदेव का चिन्तन करके जो स्तुति की थी, वही यह '**भक्तामर स्तोत्र**' है।

धर्मात्मा साधक जीवों का (तथा यमपाल-चाण्डाल जैसे मिथ्यादृष्टि जीवों के भी) पुण्ययोग से बाहर में कई बार ऐसा अतिशय हो जाता है परन्तु उसमें महत्त्व धर्म की साधना का और भगवान के गुणों की महिमा का है, राग का या पुण्य का नहीं है। इस प्रकार भलीभांति समझकर भेदज्ञानपूर्वक भक्ति करनी चाहिए। जो इस बात को समझता है, उसे वीतराग भगवान के प्रति भक्ति-बहुमान का भाव उल्लसित होता ही है।

मानतुङ्ग मुनिराज ने भावभीनी जिनस्तुति की... और चमत्कार हुआ! उनके बन्धन की बेड़ियाँ स्वयमेव टूट गयी, जेल का दरवाजा खुल गया। विशुद्धपरिणाम के बल से अशुभकर्मों का उदय दूर हो गया और शुभकर्मों का उदय आया; उपसर्ग टल गया और जैनधर्म की महाप्रभावना हुई। बाहर के इस चमत्कार की अपेक्षा भी वास्तविक चमत्कार तो अन्तर में चैतन्य की आराधना का है। आराधना के साथ बाहर के ऐसे अतिशय तो धर्मात्मा को सहज ही बन जाते हैं। वास्तविक महिमा तो आराधना की है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि इस सृष्टि में ऐसा कोई प्रभावयोग – अतिशय या चमत्कार नहीं है, जो पूर्णपद के प्राप्त परमात्मा को प्राप्त न हो! – ऐसा कहकर उन्होंने, चैतन्य के परमात्मपद के समय बाहर के पुण्यजन्य अतिशय का तुच्छपना दिखाया है। अरे! आत्मा की पवित्रता के समक्ष तो पुण्य, पानी भरता है।

प्रभो, किसी पूर्व के पापकर्म के कारण बाहर से भले कोई जेल या बेड़ी का बन्धन हो परन्तु अन्तर में निर्दोष आराधना से हमारा आत्मा भव की जेल के बन्धन से छूट रहा है। हमारे हृदय में आप विराजते हो, आपकी आराधना से भव-बन्धन टूटते ही बाहर के बन्धन भी छूट जाएँगे – इस प्रकार जिनभक्त धर्मात्मा, मोक्ष की साधना में निःशङ्क वर्तता है।

हे भव्यजीवो! इस संसार में बन्धन से छूटने के लिए तुम परम जिनभक्तिसहित शुद्धात्मा की उपासना करो। ●●

काव्य : 47

मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाहि –
संग्रामवारिधिमहोदरबन्धनोत्थम्।
तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव,
यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते॥ ४७॥

वृषभेश्वर के गुण स्तवन का, करते निशदिन जो चिन्तन।
भय भी भयाकुलित हो उनसे, भग जाता है हे स्वामिन्॥
कुञ्जर-समर-सिंह-शोक-रुज, अहि दावानल कारागार।
इनके अतिभीषण दुःखों का, हो जाता क्षण में संहार॥ ४७॥

काव्य - 47 पर प्रवचन

श्लोक 38 से 46 में, जिनस्तवन द्वारा जो भिन्न-भिन्न अनेक भयों के निवारण की बात की थी, उन सब भयों के निवारण की समुच्चय बात इस श्लोक में है।

हे जिनेन्द्रदेव! इस प्रकार जो बुद्धिमान पुरुष आपके स्तवन को पढ़ते हैं, उन्हें मदोन्मत्त हाथी, सिंह, दावालन, सर्प, युद्धभूमि, शत्रुसेना, तूफानी समुद्र, जलोधर रोग या बेड़ी के बन्धन आदि के जो भय हैं, वे स्वयं भयभीत होकर तुरन्त नाश को प्राप्त होते हैं।

अहा! आपके भक्त को तो भय नहीं है, अपितु उल्टे वे सब उपसर्ग और भय, आपकी स्तुति से भयभीत होकर भाग जाते हैं। जिसके अन्तर में परमात्मा विराजते हैं, उसे कैसा भय?

शास्त्रों में कहा है कि सम्यग्दृष्टि जीव, आत्मस्वभाव में निःशङ्क होता है, इसलिए मरण आदि सात भयों से रहित होता है। इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि हे देव! आपका भक्त, अर्थात् आपके द्वारा कहे हुए वीतराग धर्म का उपासक, सर्व भयों से रहित होता है; भय स्वयं भयभीत होकर उनसे दूर भागते हैं; मृत्यु स्वयं मर जाती है। आत्मा के विशुद्धपरिणाम से पापकर्म दूर हो जाते हैं, इस कारण बाहर में भी उपसर्गजनित भय दूर हो जाते हैं। सर्व भयों से रहित ऐसे निरामय मोक्षपद को वह आनन्द से साधता है।

इस स्तोत्र के प्रारम्भ में कहा था कि जिनदेव को 'सम्यक्' भाव से प्रणाम करता हूँ और यहाँ कहा है कि जो 'मतिमान' जीव यह स्तवन करते हैं; – **मति,** अर्थात् सर्वज्ञपरमात्मा की

श्रद्धा-पहचानपूर्वक स्तुति की यह बात है। सर्वज्ञ का स्वरूप कैसा है ? – उसे पहचानने से विभाव से भिन्न आत्मा लक्ष्य में आता है, इसलिए वह मतिमान जीव, सम्यक्त्वादि प्राप्त करके भवभय से छूट जाता है। जो स्तुति करने में राग का आदर या संयोग की अभिलाषा रखता है, वह मतिमान नहीं है, उसे सच्ची भक्ति करना नहीं आती। मतिमान-सुबुद्धि जीव तो राग की या संयोग की अभिलाषा छोड़कर, वीतरागस्वभाव की भावना से स्तुति करता है, वह धन आदि की भावना नहीं करता। जिसके अन्तर में ऐसी वीतरागता के घोलनरूप जिनस्तुति है, उससे डरकर कर्म दूर भाग जाते हैं, उसे तो कर्मों का डर नहीं है, परन्तु उल्टे कर्म उससे डरकर दूर भागते हैं। देखो, यह धर्मात्मा जिनभक्त की निःशङ्कता!

भक्तजनों को स्तुति का भाव यथार्थरूप समझकर ऐसी जिनस्तुति प्रतिदिन करना कर्तव्य है। बहुत से जिज्ञासु जीव प्रतिदिन यह 'भक्तामर-स्तोत्र' पढ़ते हैं, बोलते हैं परन्तु इसके अध्यात्मभाव बराबर समझ कर स्वाध्याय करे तो वास्तविक लाभ होता है और निर्भयपने मोक्ष की साधना होती है; इसलिए यहाँ इसके अध्यात्मभावों को स्पष्ट किया है, जो जिज्ञासु को बराबर समझने योग्य है।

अब, अन्तिम श्लोक में स्तोत्र का फल बताकर उपसंहार करते हैं। ●●

काव्य : 48

स्तोत्रस्रजं तव जिनेन्द्र गुणैर्निबद्धां,
भक्त्या मया रूचिरवर्णविचित्रपुष्पाम्।
धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्त्रं,
तं मानतुङ्गमवशा समुपैति लक्ष्मीः॥ ४८॥

हे प्रभु तेरे गुणोद्यान की, क्यारी से चुन दिव्य-ललाम।
गूंथी विविध वर्ण सुमनों की, गुण-माला सुन्दर अभिराम॥
श्रद्धासहित भविकजन जो भी कण्ठाभरण बनाते हैं।
मानतुङ्ग-सम निश्चित सुन्दर, मोक्ष-लक्ष्मी पाते हैं॥ ४८॥

काव्य - 48 पर प्रवचन

इस अन्तिम श्लोक में स्तोत्र के उपसंहारपूर्वक उसका उत्तम फल दिखाते हुए, प्रसन्नता से स्तुतिकार कहते हैं कि – अहो जिनेन्द्रदेव! मैंने आपके उत्तम गुणों से इस स्तुतिरूपी माला को गूँथा है, वह विविध प्रकार के सुन्दर शब्द-अलङ्कार तथा दृष्टान्तरूपी रङ्ग-बिरङ्गे सुगन्धित पुष्पों से शोभायमान हैं। आपके गुणों के स्तवनरूप इस माला को (भक्तामर स्तोत्र को) जो कण्ठस्थ करके सदैव हृदय में धारण करते हैं, उन महानुभाव को ('मानतुङ्ग' को अर्थात् श्रेष्ठ मनुष्य को) स्वाधीनरूप से उत्तम मोक्षलक्ष्मी प्राप्त होती है। अन्तरङ्ग में तो वे मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करते हैं और बाहर से इन्द्रपद-तीर्थङ्करपद आदि पुण्यलक्ष्मी को प्राप्त करते हैं।

भक्त के लिए '**मानतुङ्ग**' शब्द का प्रयोग करके इस श्लोक में अलङ्कारिकरूप से स्तुतिकार मुनिराज ने अपना नाम भी गूँथ दिया है।

देखो तो सही, परमात्मा के गुणों के प्रति धर्मात्मा को कैसा उल्लास जागृत होता है! स्तुतिकार कहते हैं कि हे देव! यह स्तुति मैंने आपके गुणों से गूँथी है। आपके आत्मा में जो अद्भुत चैतन्यबगीचा खिला है, उसमें से गुणरूपी पुष्पों को चुन-चुनकर भक्तिरूपी धागे में पिरोकर, मैंने स्तुतिरूपी माला बनायी है। सर्वज्ञता, अतीन्द्रिय आनन्द, वीतरागता आदि आपके गुणों के प्रति प्रमोद आने से मैंनें इस स्तुति की रचना की है। जो भव्य जीव, आपके पवित्र गुणरूपी पुष्पों से गूँथी हुई यह मङ्गल

स्तुतिमाला अपने कण्ठ में धारण करेगा, अर्थात् कण्ठस्थ करेगा तथा हृदय में आपके गुणों को धारण करेगा, वह भव्य जीव '**मानतुङ्ग**' (श्रेष्ठ मनुष्य) इन्द्रपद, तीर्थङ्करपद आदि उत्तम गुणविभूतिपूर्वक केवलज्ञानादि स्वाधीन मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करेगा। आपका भक्त आपके जैसा परमात्मा बन जाएगा। बाह्य लक्ष्मी-वैभव की तो क्या बात! चैतन्य के वैभवरूप स्वाधीन (**अवशा** = अन्य के वश नहीं ऐसी-) केवलज्ञानलक्ष्मी भी उत्तम धर्मात्मा के पास दौड़ती आयेगी।

मोक्षलक्ष्मी – केवलज्ञानलक्ष्मी स्वाधीन है, आत्मा में से प्रगट होती है और इन्द्रपद की लक्ष्मी या समवसरण आदि तीर्थङ्करपद की लक्ष्मी, वह तो कर्मों के उदय के आधीन है, वह स्वाधीन नहीं है, आत्मा में से प्रगट नहीं होती; इस प्रकार विवेकपूर्वक यह स्तुति की है।

जैसे, बसन्तऋतु में आम्र के वृक्ष पर 'बौर' देखकर कोयल प्रसन्नता से कूहूक उठती है, वैसे ही आपके गुणों को देखते ही मेरा अन्तर भक्ति से कुहूक उठा है; इसलिए इस स्तुति की रचना की गयी है। इस स्तोत्र में आपके गुणों की ही महिमा भरी हुई है। उन गुणों की महिमा को जो अपने अन्तर में धारण करते हैं, वे संसार के सर्व विघ्नों से दूर हो जाते हैं... और वे शीघ्र ही मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार परमात्मस्तुति का फल परमात्मपना है। जो भव्यात्मा, सम्यक्भाव से परमात्मगुणों का स्तवन करेगा, वह स्वयं परमात्मा बन जाएगा।

— इस प्रकार मङ्गलपूर्वक ऋषभदेव प्रभु की स्तुतिरूप यह भक्तामर-स्तोत्र पूर्ण होता है। ●●

संस्थान के उद्देश्य

1. जैन धर्म, जैन दर्शन एवं जैन तत्वज्ञान के प्रचार प्रसार हेतु आध्यात्मिक शिक्षण शिविरों का देश-विदेश में आयोजन करना।
2. शिविर लगाकर दिगम्बर जैन तत्व एवं उसकी आचार संहिता जिसका प्रतिपादन भगवान महावीर एवं उनकी परम्परा में आचार्यश्री कुन्दकुन्दस्वामी, श्री उमास्वामी, श्री समन्तभद्राचार्यजी, पण्डितश्री टोडरमलजी, पण्डित श्री बनारसीदासजी आदि विद्वानों ने किया है और वर्तमान में पूज्य सत्पुरुष कानजीस्वामीजी द्वारा जिसकी विशद् व्याख्या की गई है इस प्रकार इनके सबके अनुसार इनके श्रद्धालु, विद्वानों द्वारा प्रवचन, शिक्षण, गोष्ठी, तत्व चर्चा, वाचन द्वारा धर्मप्रिय जनता को बोध कराया जावेगा।
3. जो शिविर आयोजित किये जावेंगे उनका विशेष लाभ दिगम्बर जैन बन्धु के साथ-साथ समस्त विश्व के अजैनबन्धु भी ले सकेंगे।
4. उक्त उद्देश्यों की पूर्ति हेतु स्थापित अन्य संस्थाओं को सहयोग करना व आवश्यकता होने पर इस संस्था हेतु अन्य संस्थाओं से सहयोग प्राप्त करना होगा।
5. बच्चों में अच्छे संस्कार दिये जा सके, इसलिए बाल संस्कार शिविरों का आयोजन करना एवं इस हेतु आवश्यक जैन साहित्य प्रकाशित करना।
6. तत्व प्रचार के नये उपायों एवं सम्भावनाओं की खोज करना एवं उनको कार्यान्वित करना।
7. विशिष्ट विद्वानों एवं कुन्दकुन्द स्वामी में आस्था रखनेवाले व्यक्तियों को विशिष्ट परिस्थितियों में आर्थिक सहयोग करना।
8. साधर्मी भाईयों के स्वागत सत्कार में व उनके सहयोग के लिए संस्थान की आय से सहयोग करना।
9. धार्मिक पुस्तकों का प्रकाशन करना, कराना व उस हेतु आवश्यक आर्थिक साधन जुटाना।
10. समाज की कमजोर वर्ग की महिलाओं व पुरुषों, ब्रह्मचारी बहनों एवं ब्रह्मचारी भाईयों को आर्थिक सहायता करना, कराना ताकि वे धर्म साधना सम्यक्‌रूप से कर सकें।
11. (अ) औषधालय स्थापित करना, कराना एवं उसे सञ्चालित करना, कराना।
    (ब) उपचार हेतु शिविरों का आयोजन करना, कराना।
12. अन्य ऐसे कार्य करना जो सञ्चालक मण्डल के द्वारा समय-समय पर काल व परिस्थिति अनुसार निर्णय लिये जावें जो कि मानव सेवा के लिए हों तथा देश सेवा के लिए हो, ऐसे कार्य मानव मात्र के लिए करना।

भक्तामर रहस्य

ISBN - 978-81-906776-0-8